ज्ञान, मूल्य और सत्

ज्ञान, मूल्य और सत्

संगमलाल पाण्डेय
अध्यापक, दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रकाशक :
साहित्यवाणी
इलाहाबाद

प्रकाशक
साहित्यवाणी,
५, गोसाईं टोला, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सन् १९७३ ई०

(सजिल्द) मूल्य : १० रु०
(अजिल्द) मूल्य : ८ रु०

मुद्रक
शुभचिन्तक प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद

आमुख

ज्ञान, मूल्य और सत् मे एक नये दार्शनिक मत की स्थापना की गयी है। इसे एकात्म मूल्यवाद कहा जा सकता है। इसकी नवीनता त्रिविध है, पहले, यह पश्चिमी प्राचीन, आधुनिक और समकालीन दर्शन से भिन्न है और उनका खडन करता है, दूसरे, यह प्राचीन भारतीय दर्शनों से भिन्न है और उनमे एक स्वीकारात्मक तथा गत्यात्मक समन्वय स्थापित करता है और अन्त मे यह अन्य समकालीन भारतीय दार्शनिको के विचारों से भिन्न है। यह मेरा अपना मत है जो १९५४ मे लेकर १९६९ तक विकसित हुआ है। यह किसी पाश्चात्य दर्शन का अनुकरण अथवा भाष्य नहीं है। यह किसी भारतीय दर्शन का भी अनुकरण या भाष्य नही है। यह सभी भारतीय दर्शनो का समन्वय आनन्दवाद मे करता है और इस कारण यह पूर्णत भारतीय है। इसकी प्रेरणा मुझे अपने गुरुदेव रानडे तथा अनुकूल चन्द्र मुकर्जी से मिली है। मैंने गुरुदेव रानडे को गुरुदेव मुकर्जी के दृष्टिकोण से और गुरुदेव मुकर्जी को गुरुदेव रानडे के दृष्टि-कोण मे देखा है और इस प्रकार एक तार्किक प्रातिभवाद का विकास सभव हो सका है। तार्किक प्रातिभवाद एकात्म मूल्यवाद की चिन्तन-प्रणाली है।

एकात्म मूल्यवाद शाकर वेदान्त का अद्वैतवादी विकास है। यह शांकर वेदान्त मे ऐसे सशोधन तथा परिवर्धन करता है जो उसकी प्रतिभा के सर्वथा अनुकूल हैं। किन्तु इसकी विधि अपनी है और शाकर वेदान्त की विधि से भिन्न है, दोनो का भेद प्रक्रिया-भेद है। इसकी विधि प्रातिभज्ञान और उसके विश्लेषण तथा सश्लेषण की विधि है। इसमे प्रत्यक्ष और युक्ति (अनुमान) के वे ही कार्य मान्य हैं जो प्रातिभ ज्ञान के अनुकूल हैं, उनके अन्य कार्य इस विधि मे व्यर्थ हैं। इसके अनुसार प्रातिभज्ञान प्रत्येक ज्ञान का मूल है, वही वास्तव मे ज्ञान पद से वाच्य है, तर्क मे ब्रह्म का ज्ञान सम्भव है और तर्क श्रुति-प्रमाण से अधिक बलवान् है।

इसमे चैतन्य को एक, अखण्ड और सर्वव्यापी सिद्ध किया गया है। कोई विषय मात्र सदाकार और / या ज्ञानाकार नही है अपितु वह परमार्थाकार भी है। उसके सदंश तथा ज्ञानांश उसके सम्पूर्ण रूप के विखण्डित और प्रति

अश है। एकात्मक मूल्यवाद अद्वैत मूल्य-मीमासा है जो सत्-मीमासा और ज्ञान-मीमासा को केवल मूल्य-मीमासा के सन्दर्भ मे ही सार्थक तथा प्रमाणित मानती है। इसकी तुलना एक ओर हुसर्ल के प्रतीतिविज्ञान (फेनामेनालोजी) मे की जा सकती है और दूसरी ओर क्रोचे की प्रत्ययवादी मूल्यमीमासा (आइडियलिस्टक वैल्यू फिलासफी) से। किन्तु यह दोनो से भिन्न भी है, यह भिन्नता मूल्यो के स्तरो पर विशेषत लक्षित होती है। एकात्म मूल्यवाद मूल्यो के विविध स्तर मानता है। किन्तु प्रत्येक स्तर पर वह अद्वैतवाद को ही प्रस्तावित करता है। कोई चाहे तो उसे अर्थो या मूल्यों का अद्वैत प्रतीति-विज्ञान (अद्वैत फेनामेनालोजी आव् वैल्यूज़) कह सकता है।

ज्ञान, मूल्य और सत् मे कुल दस अध्याय हैं जिनमे से दूसरे और नवें अध्याय को छोडकर शेष सभी अध्याय निवन्ध-रूप मे पहले प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे से अधिकाश निबन्ध दार्शनिक त्रैमासिक मे १९५४ से १९६१ तक प्रकाशित हैं। अन्तिम निबन्ध 'रानडे का दर्शन' मे प्रकाशित है।

इन प्रकाशित निबन्धो मे सभी बहुचर्चित निबन्ध रहे हैं और अनेक विद्वानो तथा दार्शनिको ने इनकी मौलिकता की सराहना की है। उनकी सराहना मे ही प्रेरणा पाकर इन निबन्धो को यहाँ सकलित किया गया है।

'आत्मा का स्वभाव' नामक निबन्ध ने एक महत्त्वपूर्ण विवाद खडा किया है। दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष ४ अक २, १९५८ मे इसकी कटु आलोचना निकली है और वहीं वर्ष ४ अक ३ और अक ४, १९५८ मे इस आलोचना की दो प्रत्यालोचनाएँ निकली हैं। जिज्ञासु पाठको को इन्हे पढना चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक मे इनका कोई विशिष्ट स्थान नही था, इस कारण इनका सकलन यहाँ नही किया गया। किन्तु यह कहने में अतिशयोक्ति नही है कि इस विवाद के फलस्वरूप आत्मा-सम्बन्धी मेरे विचारो को बडा प्रोत्साहन मिला और यदि दार्शनिक त्रैमासिक के सपादक इस विवाद को बन्द न कर देते तो उसके अधिकाश पाठक मेरे ही विचारो के समर्थन मे अपनी लेखनी का प्रयोग करते।

अन्त मे मैं अपने मित्र श्री यशदेव शल्य के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ क्योंकि वे मेरे विचारो के विकास मे एक प्रकार से प्रेरक रहे हैं। वे जिस तन्मयता से आरम्भ मे तार्किक प्रत्यक्षवाद के समर्थक थे मैं उतनी ही तन्मयता से तार्किक प्रत्यक्षवाद का आलोचक था। यह कहने मे मुझे प्रसन्नता है कि अब उन्होंने भी तार्किक प्रत्यक्षवाद की आलोचना आरम्भ कर दी

है। मैंने यहाँ जिस दार्शनिक मत की स्थापना की है उसका मूल भारत की धरती और संस्कृति में है। मैं उन विचारकों को भारतीय दार्शनिक नहीं मानता जो किसी पश्चिमी विचारक या दार्शनिक मत के अनुसार चिन्तन करते हैं अथवा उसके अनुसार किसी भारतीय दर्शन की व्याख्या करते हैं। फिर मैं उन लोगों में से भी नहीं हूँ जो मानते हैं कि अब और आगे भारतीय दर्शन का विकास नहीं हो सकता है। वास्तव में मैंने अपने युग की इन चुनौतियों को स्वीकारा है और अपने ढंग से एक मौलिक और नये भारतीय दर्शन का प्रस्ताव यहाँ किया है। जो लोग इस प्रस्ताव को स्वीकार करें और इसके विकास में लगें उनका मैं स्वागत करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझसे विचार-विनिमय करने की कृपा करें। सहचिन्तन ही मौलिक चिन्तन को अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित करता है।

संगमलाल पाण्डेय

दर्शनपीठ,
१७७, टैगोर नगर, इलाहाबाद
दिनाक १५ मार्च १९७३।

विषय-क्रम

—•—

तत्वज्ञान क्या है ?

तत्वज्ञान मानवबुद्धि का सर्वोच्च ज्ञान है। पर यह कथन बहुतो को सावद्य लगेगा। कारण, वे इसकी सत्ता या सार्थकता मे साधारण अविश्वास, युक्ति-हीन अविश्वास, किवा युक्तियुक्त अविश्वास करते हैं। पहले दो प्रकार के लोगो का अविश्वास निराधार है। तत्वज्ञान को उनसे कोई क्षति नही। पर तीसरे प्रकार के लोगो का मत विचारणीय है। देखना है कि जो लोग तत्व-ज्ञान को व्यर्थ या नि सार बताते हैं, वे दार्शनिक (तत्वज्ञानी) हैं या अदार्शनिक। जहाँ तक हम जानते है, किसी अदार्शनिक ने दर्शन या तत्वज्ञान मे युक्तियुक्त अविश्वास नही प्रकट किया। अत वे लोग दार्शनिक हैं जो दर्शन मे युक्तियुक्त अविश्वास करते है। इस वाक्य का क्या अर्थ हो सकता है ? सक्षेपत हम इसे यो रखेंगे—दार्शनिक दर्शन की सत्ता मे युक्तियुक्त अविश्वास करता है।

पर यह व्याघात है। क्या कोई कह सकता है कि वह वन्ध्या-पुत्र और मौनी है ? क्या प्रकाश अप्रकाशक हो सकता है ? क्या दार्शनिक दर्शन-शत्रु हो सकता है ? दर्शन के अदर्शन होने पर दार्शनिक का भी अदर्शन हो जायगा। अत कोई दार्शनिक दर्शन के अत्यन्ताभाव का पोषक नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे दार्शनिक दर्शन-सामान्य का निराकरण नही करता और न कर सकता है। कारण, वैसा करने पर उसके दर्शन-निराकरण के साथ ही निरा-करणपरक उसकी बातो का भी निराकरण हो जायगा। अतः स्पष्ट है कि दार्शनिक किसी दर्शन-विशेष का निराकरण करता है। शकर का कहना नितान्त समीचीन है कि "तर्काणाम् अप्रतिष्ठा तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते।"[1] एक तर्क की अप्रतिष्ठा या निराकृति दूसरे तर्क द्वारा ही हो सकती है। एक दर्शन का निराकरण दूसरे दर्शन द्वारा ही सम्भव है। पर कोई बिना किसी तर्क या दर्शन के किसी अन्य तर्क या दर्शन का निराकरण नही कर सकता। मैक्टागर्ट

---

[1] शारीरक भाष्य २. १. ११

भी यही कहता है कि कोई तर्क को तब तक तोड नही सकता जब तक तर्क ही उसको न तोड दे ।

पर दर्शन-विशेष का खण्डन दर्शन का खण्डन नही हुआ । कोई दार्शनिक जब कहता है कि तत्वज्ञान व्यर्थ है तो वह तत्वज्ञान शब्द का अर्थ किसी दर्शन विशेष के अर्थ मे करता है । अपने तत्वज्ञान को वह व्यर्थ नही बतलाता । "तत्वज्ञान व्यर्थ है", कम से कम इस वाक्य को वह अपना सच्चा ज्ञान मानता है । वह यह नही कह सकता कि उसका उक्त वाक्य भी व्यर्थ है । वह दूसरो के तत्वज्ञान के वृथात्व ज्ञान को सार्थक, सार्वभौम और वैज्ञानिक मानता है। पर क्या यह दबी जबान से एक विशिष्ट प्रकार के तत्वज्ञान का समर्थन नही हुआ ? दर्शन-निराकर्त्ता सचमुच प्रसिद्ध भस्मासुर हैं । अपने सिद्धान्त-हस्त से वे सब को भस्म करना चाहते हैं । पर सब को भस्म करने के पूर्व वे स्वय भस्म हो जाते है ।

अब दर्शन निराकर्त्ताओ की युक्ति देखना है । न जाने क्यो उनकी युक्ति केवल एक है । जिस वाक्य के पदार्थ (वस्तु) का प्रत्यक्ष से सवाद न हो वह वाक्य न सत्य है और न असत्य । तत्वज्ञान के वाक्यो के अन्तर्गत वस्तुओ का प्रत्यक्ष मे सवाद नही होता है । अत तत्वज्ञान के वाक्य न सत्य हैं और न असत्य । अर्थात् तत्वज्ञान के वाक्य व्यर्थ हैं । इस युक्ति को अनेक ढग से रखा जा सकता है । यूनानियो, भारतीयो तथा वर्तमान प्रत्यक्षवादियो ने इसको अपने ढग से कहा है । पर सामान्यतया अथवा सारत सब की युक्ति ऊपर कही युक्ति ही है । इस युक्ति मे केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना गया है । प्रत्यक्ष से जो वाक्य खरा या खोटा उतरे वह सत्य या असत्य है । और जो न खरा न खटा उतरे वह न सत्य है और न असत्य अर्थात् व्यर्थ है ।

यहां तीन प्रश्न विचारणीय हैं । (१) क्या प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रामाणिकता सर्वमान्य है अथवा युक्तियुक्त है ? (२) क्या प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि तत्वज्ञान के वाक्यो द्वारा सूचित वस्तु न सत्य है न असत्य ? (३) क्या जो न सत्य हो और न असत्य, वह व्यर्थ है ?

प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता असदिग्ध नही है । कितने ही लोगो ने प्रत्यक्ष को स्वत अप्रमाणित, तर्कप्रतिष्ठित अथवा प्रातिभ-प्रतिष्ठित माना है । तर्क से भी प्रत्यक्ष का प्रामाण्य खरा नही उतरता । प्रत्येक मनुष्य को भ्रम, प्रतिभास और स्वप्न के विषय वितथ सिद्ध होते हैं । अत प्रत्यक्ष के भी विषय वितथ हैं । इस प्रकार प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता युक्तियुक्त नही है । आगे, प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध नही किया जा सकता कि तत्वज्ञान के वाक्यो द्वारा सूचित

वस्तु न सत्य है और न असत्य। प्रत्यक्ष इस बात का नही होता। वह वस्तु घोषित करता है, न कि वाक्य। दर्शन-निराकर्त्ता अपने इस वाक्य का प्रत्यक्ष नही करते, वरन् अनुमान करते हैं। अतएव उनकी कसौटी स्वय यहाँ विफल हो जाती है। उनका यह निष्कर्ष भी सावद्य है कि जो न सत्य है और न असत्य वह व्यर्थ है। '३' यदि सत्य नही, असत्य नही, तो वर्तमान दर्शन-निराकर्त्ताओ के लिए व्यर्थ है। उनके अनुसार सत्य-असत्य-वृथा ये ही तीन कोटिया हैं। उनके मत से प्रत्येक वाक्य को इनमे से किसी एक के अन्तर्गत आना अनिवार्य है। नागार्जुन की भाँति वे सत्य, असत्य, उभय (सत्य-असत्य), अनुभय (न सत्य न असत्य) और इन चारो कोटियो से परे पांचवी कोटि को नही मानते हैं। नागार्जुन का कहना है कि यदि '३' सत्य नही, असत्य नही, सत्यासत्य दोनों नही, दोनो मे से कोई एक नही (अनुभय) नही हैं तो इसका मतलब है कि '३' पचम कोटि मे है। यह कोटि शून्यता की है। वर्तमान प्रत्यक्षवादियो का तर्क इसी से असगत हो जाता है कि वे नागार्जुन के उभय और अनुभय विकल्प को छोड देते हैं। यदि '३' सत्य नही, असत्य नही, तो वह उभय, अनुभय और शून्य इनमे से कोई एक हो सकता है। और जब वर्तमान प्रत्यक्षवादी कहते है कि यदि '३' सत्य नही, असत्य नही, तो '३' व्यर्थ हैं, तब इस वाक्य के "यदि" मे आरम्भ होने वाले उपवाक्य और 'तो' से आरम्भ होने वाले उपवाक्य मे कोई तार्किक सम्बन्ध नही है। पहला उपवाक्य दूसरे उपवाक्य को अनिवार्यत उत्पन्न नही करता। यदि-तो का यह सम्बन्ध न प्रत्यक्षसम्मत है, न तर्कसम्मत। वृथात्व की सिद्धि असत्यता से नही होती। जैसे स्वप्न-विषय असत् हैं पर वे व्यर्थ नही है, वे मनुष्य की सुप्त इच्छाओ के प्रकाशन मे सार्थक हैं। फिर असत्यता की सिद्धि प्रत्यक्ष से नही होती, प्रत्यक्षाभाव से होती है। प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभाव दोनो कदापि एक वस्तु या क्रिया नही हो सकते। मृगतृष्णा का जल असत्य है, क्योकि उसका प्रत्यक्ष नही होता। अभाव या अनुपलब्धि वस्तुओ की असत्यता-सिद्धि मे एकमात्र प्रमाण है। अत प्रत्यक्ष किसी वस्तु की सत्यता-सिद्धि भले ही कर दे, पर वह असत्यता-सिद्धि मे असमर्थ है। तब सिद्ध हुआ कि "प्रत्यक्षत और युक्तित तत्वज्ञान व्यर्थ है" इस वाक्य की उपपत्ति असम्भव है।

उक्त तीन प्रकार के अविश्वासियो के प्रतिद्वन्दी तीन प्रकार के विश्वासी हैं। कुछ तत्त्वज्ञान की सार्थक सत्ता मे साधारण विश्वास करते हैं, कुछ युक्तिहीन और कुछ युक्तियुक्त। पहले दो प्रकार के लोग वैसे ही दर्शन-द्रोही है, जैसे पहले दो प्रकार के अविश्वासी। उनसे दर्शन को कोई लाभ नही। हाँ, तीसरे

प्रकार के लोग सच्चे तत्वज्ञानी हैं। विश्व के विख्यात दार्शनिक इसी कोटि मे आते हैं। इन लोगो का कहना है कि कम से कम हमे अपनी सत्ता का ज्ञान है। इस ज्ञान के बाद हम अन्य वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अन्ततः सब वस्तुओ के ज्ञान को हमारी बुद्धि समन्वित करती है या एक सूत्र मे बाँधती है। ज्ञान सर्वदा वस्तुतन्त्र रहता है, चाहे वह यथार्थ हो या अयथार्थ, साधारण हो या असाधारण। अतएव बुद्धिसमन्वित समग्र ज्ञान भी किसी-न-किसी वस्तु का निर्देश करता है।

इन दार्शनिको ने दर्शन या तत्वज्ञान का एक ही लक्षण दिया है, जिसकी प्राय उपेक्षा की जाती है। पश्चिम मे प्लेटो प्रथम महान् दार्शनिक माना जाता है। उसका कहना है कि तत्वज्ञानी वह है जिसे प्रत्येक वस्तु के सार का ज्ञान हो। तत्वज्ञान को वह सबसे श्रेष्ठ विज्ञान समझता था। उससे सभी वस्तुओ के सार का ज्ञान होना वह सम्भव मानता था। शिव (The Good) को वह परमार्थ सत् मानता था। शिव को जानने पर सभी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती है। प्लेटो का शिष्य अरिस्टाटिल उसके ज्ञान को विकसित करते हुए कहता है कि तत्वज्ञान आदि कारण का ज्ञान है। जगत् का कोई मूलकारण है। वह सभी जागतिक वस्तुओ मे व्याप्त है। अतएव उसको जान लेने पर सभी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती है। अरिस्टाटिल का यह लक्षण इतना उपयुक्त प्रतीत हुआ कि मध्ययुग के अन्त तक इसी का बोल-बाला रहा। इस्लाम के दार्शनिको ने सिद्ध किया कि तत्वज्ञान सचमुच आदि कारण का ज्ञान है। वह सर्वान्तर है। अतएव उसके ज्ञान मे सब वस्तुओ का ज्ञान समाविष्ट है। धर्मनिष्ठ इमाम गज़ाली ने दर्शन का खण्डन किया। पर इब्नरुश्द ने ईट का जवाब पत्थर से दिया। उसने गज्जाली के दर्शन-खण्डन का खण्डन लिखा और पुन प्लेटो और अरिस्टाटिल के अर्थ मे दर्शन की प्रतिष्ठा की।

लाक ने इस लक्षण को दूसरी दिशा मे मोडा। उसके अनुसार तत्त्वज्ञान किसी वस्तु का ज्ञान नही है, वरन् ज्ञान का ही ज्ञान है। यह वह ज्ञान है जिसमे सभी प्रत्ययो की उत्पत्ति, विकास और प्रामाण्य पर विचार किया जाता है। इस प्रकार प्रमाणविज्ञान तत्वविज्ञान हो गया। ह्यूम ने इस पर सशय किया तो काण्ट ने इब्नरुश्द से भी सुन्दर ह्यूम को जवाब दिया। पर काण्ट का तत्वज्ञान आदि कारण का ज्ञान नही था। वह विशुद्ध बुद्धि की स्वयकृत आलोचना का ज्ञान था। अत बहुत से लोग समझते हैं कि काण्ट भी तत्वज्ञान का विरोधी था। पर वैहिगर का कहना यथार्थ है कि विशुद्ध बुद्धि की आलोचना

(Critique of Pure Reason) स्वय बहुत बडा तत्वज्ञान है। पीछे हेंगल ने इसी से तर्क और तत्वज्ञान की, प्रत्यय और वस्तु की एकता का सिद्धान्त निकाला। उसे एक परम प्रत्यय या वस्तु (Absolute Idea) मिली जिसमे सभी प्रत्ययो का युगपत् सहभाव हो सकता है, जिसको जानने पर सभी प्रत्यय स्वत ज्ञात हो सकते हैं। हेगल के इस प्रत्ययवाद का समूचे यूरोप पर प्रभाव पडा। ब्रिटेन मे जाकर नव-हेगल-मत का पुन' प्रवल विकास हुआ जिसका महान् दार्शनिक प्रतिनिधि ब्रैडले था। उसके मत मे वह अपरोक्ष अनुभूति है जिसके ज्ञान से सभी प्रत्ययो और वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि इसमे सभी प्रत्यय परस्पर तर्कत सश्लिष्ट है। इस विपयगत विज्ञानवाद को भूल से विपयिगत विज्ञानवाद समझने वाले कुछ दार्शनिको की खोज-नौका एक दूसरे ही लोक मे पहुँची। उनका दावा है कि किसी एक व्यक्ति के मन के अध्ययन या ज्ञान से सभी वस्तुओ का ज्ञापक ज्ञान नही मिल सकता है। मानव जाति के मन का ज्ञान प्राप्त करने से ही वह सम्भव है। मानवता का मन इतिहास के दार्शनिक अध्ययन से सुलभ है। अत अब इतिहास-दर्शन तत्वज्ञान हो गया। कालिंगउड और क्रोचे इसके मुख्य आचार्य हुए। डेल्टाई ने इधर काण्ट का काम किया और विशुद्ध बुद्धि की आलोचना को वदलने के लिए ऐतिहासिक बुद्धि की आलोचना (Critique of Historical Reason) लिखी। पर था यह तत्वज्ञान ही। व्यक्ति और इतिहास—चाहे जिस माध्यम से प्राप्त हो, पर वह ज्ञान प्राप्तव्य है जिसके द्वारा सव वस्तुओ का सारभूत ज्ञान मिल सकता है। इतिहास आखिर व्यक्तियो के जीवन का अध्ययन ही तो है। भूत व्यक्तियो के मन को पढने के लिए प्राप्त सामग्री उनका मन नही हो सकती क्योकि उनके मन का निरीक्षण असम्भव है। भापा वह वस्तु है जिसमे ऐतिहासिक बुद्धि विद्यमान है, जिसमे आदि से लेकर आज तक मानवता के ज्ञान की राशि है और जिसका प्रयोगात्मक निरीक्षण द्वारा अध्ययन सुकर है। अत दार्शनिको ने सोचा कि भापा के ज्ञान से ही वह ज्ञान मिल सकता है जिसमे सव ज्ञानो का एकीकरण होता है। भापा की वनावट, वाक्य की रचना, शब्द और अर्थ का सम्वन्ध, अन्यान्य भापाओ का परस्पर रूपान्तर, भापा के प्रयोग आदि की सूक्ष्मरीति से समीक्षा की गई ताकि वह विज्ञान प्राप्त हो जिसे विज्ञानो का विज्ञान (Science of Sciences) कहा जाय। गणित, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, जीवशास्त्र, समाज-शास्त्र आदि अनेक शास्त्रो की आधारभूत स्वयंसिद्ध प्रतिज्ञाओ को परस्पर रूपान्तरित कर कुछ मौलिक सर्वशास्त्रमान्य स्वयसिद्ध प्रतिज्ञाओ की खोज की गई जिनके अध्ययन को विज्ञानो की इकाई

(Unity of sciences) कहा गया। इस विज्ञान को तत्वज्ञान ही समझना चाहिए। कारण, इससे वह ज्ञान मिलता है जिसके द्वारा सकल शास्त्रो के विषयगत ज्ञान का स्थूल रीति से परिचय मिलता है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि अन्ततोगत्वा एक ऐसा विज्ञान है जिसका विषय अन्यान्य साधारण विज्ञानो के आधारभूत सिद्धान्तो की समीक्षा करके सब वस्तुओ का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना है। इस विज्ञान के लिए ज्ञान और वस्तु मे वैसे ही अभेद है जैसे विषयगत विज्ञानवाद मे। इस विज्ञान के प्रवर्तको ने वही बात खोजी जिसे विषयगत विज्ञानवादियो ने खोजा था। सत्ताबोधक वाक्य (Existential Proposition) विश्लेपणात्मक (Analytic) नही है, वे सश्लेपणात्मक (Synthetic) है। विज्ञान मे केवल विश्लेषणात्मक वाक्यो का ही वर्णन रहता है। अत सत्ताबोधक सश्लेषणात्मक वाक्यो का वैज्ञानिक अध्ययन नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे सत्ता विधेय (Predicate) नही हो सकती। वह सदा वाक्यो मे उद्देश्य (Subject) रहती है। प्रत्यक्षवादियो ने इन सत्ताबोधक सश्लेषणात्मक वाक्यो को व्यर्थ बतलाया। उनको केवल विश्लेषणात्मक वाक्यो से ही सन्तोष मिला और उन्ही के अध्ययन से विज्ञान की खोज को कुछ लोगो ने ठीक ही एकागी समझा। अत उन्होने सत्ताबोधक सश्लेपणात्यक वाक्यो पर विचार किया। "मैं हूँ" इस वाक्य मे सत्ताद्योतक 'हूँ' विधेय है व्याकरण से। पर वस्तुत वह विधेय नही, उद्देश्य है। 'मैं' और 'हूँ' दोनो शब्द एक ही वस्तु के द्योतक है। सत्ता कभी विधेय नही की जा सकती। अत वह कभी विषय (Object) भी नही बन सकती। वह हरेक वाक्य का उद्देश्य है। अत उसका ज्ञान भी विषय-ज्ञान से सम्भव न होकर आत्मज्ञान से सभव है। उसे विषयी की ओर से (Subjectively) ही प्रतीत किया जा सकता है। कम से कम इस आत्म-प्रतीति का ज्ञान प्रत्येक प्राणी को होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षवादियो का मुँहतोड विरोध प्रतीतिवादियो ने किया और कर रहे हैं। दोनो को यह मान्य है कि कम से कम एक ऐसा ज्ञान है जिसके द्वारा सब वस्तुओ का ज्ञान साररूप से मिल सकता है। दोनो मे पर्याप्त विरोध होते हुए भी इस बात का मतैक्य है कि दोनो तत्वज्ञान को किसी न किसी रूप मे मानते हैं। दोनो का कहना है कि तत्वज्ञान कोई एक ऐसा विज्ञान नही है जिसमे सब वस्तुओ के ज्ञानो का तारतम्य रीति मे समावेश हो। पर इतना दोनो मानते हैं कि तत्वज्ञान इस अर्थ मे सम्भव है कि यह वह ज्ञान है जिससे ज्ञान-सामान्य सारत मिल जाता है।

भारतीय दर्शन में भी तत्वज्ञान का उक्त लक्षण सर्वमान्य है। औपनिषद दार्शनिक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को वह आदेश बतलाया जिसको जानने पर अश्रुत श्रुत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है और अमत मत हो जाता है। इस ज्ञान को 'तत्त्वमसि' का विज्ञान या ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान कहा गया। याज्ञवल्क्य के मत मे आत्मा को जानने पर ही सब वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं। सनत्कुमार ने सर्वशास्त्रवित् नारद को वह विज्ञान बतलाया जिसका विकास आज विज्ञानो की एकता (Unity of sciences) मे देखा जा रहा है। हिन्दू दर्शन मे इस विज्ञान का आगे चलकर और विकास हुआ। साख्य ने मूलकारण प्रकृति और भोक्ता पुरुष के विवेक को ही तत्वज्ञान ठहराया। वैशेषिक ने दोनो के विशेष (अन्तर) पर जोर दिया। यहाँ तक कि विशेष-ज्ञान ही उक्त तत्वज्ञान बन गया। योग ने दोनो का सहभाव पुरुषोत्तम मे देखा और इसलिए पुरुषोत्तम-ज्ञान को ही ज्ञान-विज्ञान माना। न्याय ने लाक की भाँति प्रमाण-विज्ञान को ही वह ज्ञान ठहराया तो मीमासा ने कर्म-विज्ञान को। वेदान्त ने उपनिषद की परम्परा को जारी रखा। आत्म-ज्ञान ही इसमे सच्चा तत्वज्ञान आद्योपान्त बना रहा। नव्य-न्याय ने आगे चलकर इस तत्वज्ञान को दूसरी दिशा मे मोडा। भाषा की बनावट, वाक्य का रूप, वाक्य और शब्द का सबन्ध, अर्थ और शब्द का सबन्ध, अर्थ के हेतु, शब्दप्रयोग, सकेत आदि के ज्ञान को ही सब वस्तुओ का ज्ञान माना गया। मीमासा ने भी वाक्य की परीक्षा वैज्ञानिक ढग से की। वर्तमान वाक्य विज्ञान (Syntactics), अर्थविज्ञान (Semantics) और प्रयोग-विज्ञान (Pragmatics) जो तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Empiricism) के अग माने जाते हैं, बहुत कुछ मीमासा और नव्य-न्याय के रूप मे भारत मे आज से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व विकसित हो चुके हैं। इनके विषय मे पाश्चात्यो को अभी हाल मे ही ज्ञान हुआ है और उन्होने इनको आधुनिक तार्किक प्रत्यक्षवाद का जनक पाया। भारतीय भक्तो को इस भाषा-प्रत्यक्षवाद से सतोष न हुआ। उन्होने भक्ति को ही ज्ञान-विज्ञान माना। धार्मिको को भक्ति से भी आगे बढना पडा, ईश्वर तक। पर माना उन्होंने भी उस एकत्व-विज्ञान को, जिसे सर्व ज्ञान कहा जा सकता है।

बौद्धो मे भी यही तत्वज्ञान है। सुगत ने प्रतीत्यसमुत्पाद को ही वह वस्तु बतलाया जिसके जानने से सब वस्तुएँ ज्ञात हो सकती हैं। जिसने इसको न समझा उसने कुछ नही समझा। आगे चलकर नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता का ही पर्याय कहा। उनके मत मे जो शून्यता को जानता है वह सब

चीजो को जानता है। जो शून्यता को नही जानता वह एक भी चीज नहीं जानता।

जैनियो ने आरम्भ से ही समन्वय का दृष्टिकोण अपनाया। उन्होने भी उस एकत्वज्ञान को माना जिससे सर्वत्व-ज्ञान हो सकता है। पर वे इतने से सन्तुष्ट न हुए। उन्होने उक्त वाक्य का पूरक दूसरा वाक्य भी जोडा—सर्वस्व-विज्ञान होने पर ही एकत्व-विज्ञान सभव है। अत एकत्व-विज्ञान सहज नही। एक पदार्थ का ज्ञान उसी को हो सकता है जिसको सारे पदार्थो का ज्ञान है। सारे पदार्थो का ज्ञान उसी को हो सकता है जिसको एक पदार्थ का ज्ञान है। कारण, एक पदार्थ के स्वरूप मे सब पदार्थों का स्वरूप छिपा है और सब पदार्थो का स्वरूप एक पदार्थ के स्वरूप के अनुरूप ही है। इस प्रकार जैनियो ने तत्वज्ञान के विविध स्वरूपो को अपने अनेकान्तवाद या समुच्चयवाद मे समाविष्ट किया।

इस प्रकार सच्चे दार्शनिको मे इस वात पर मतैक्य है कि तत्वज्ञान वह है जिसके द्वारा सव वस्तुओं का सारभूत ज्ञान मिल सकता है। पर सकल पदार्थो का ज्ञापक वह किस वस्तु का ज्ञान है? इस पर उनमे मतभेद है। उस वस्तु के आत्मा, ब्रह्म या परम सत्, ईश्वर, आदि कारण, प्रकृति, आकृति, प्रमाण, समाज, इतिहास, भाषा, शब्द, वाक्य, अर्थ, प्रयोग, सख्या, सकेत आदि विविध नाम दिये गये और इसी प्रकार न जाने कितने नाम भविष्य मे दिये जायेंगे। कभी दशन की प्रगति अग्रसर हुई तो नई दिशाओ मे उसको मोडा जाता है। पर जव प्रगति मन्द रहती है, कुछ अन्ध-युग चलता है तो नूतन मोड की अपेक्षा किसी प्राचीन दर्शन की पुनरावृत्ति अथवा विभिन्न दर्शनो के समन्वय पर जोर दिया जाता है। आज विश्व के कुछ दार्शनिक दर्शन को नूतन दिशा मे खीचने लगे हैं तो कुछ समन्वयवाद पर ही जोर दे रहे है। अन्तर्राष्ट्रीय दार्शनिक सम्मेलनो मे इस दर्शन-समन्वय या समझौते की प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। पर समुच्चयवाद का कोई सिद्धान्त होता है। जैन अनेकान्त-वाद मे जो समुच्चयवाद मिलता है, उसका सिद्धान्त था अनिर्वचनीयतावाद और स्याद्वाद। आज अनिर्वचनीयतावाद से काम नही चल सकता क्योकि दूसरे शब्दो मे वह अज्ञानवाद हो जाता है। हां, स्याद्वाद आज समुच्चय मे सहायक हो सकता है। उसका वर्तमान रूप यह है कि कम से कम एक अर्थ मे 'क' अवश्य है। इसी प्रकार कम से कम एक अथ मे प्रत्येक दर्शन-सत्य है। दूसरो सकेत द्वारा यो व्यक्त किया जाता है—हक। अर्थात् 'क' कम से कम एक अर्थ मे है। 'क' से मतलब कोई वाक्य या ज्ञान है। यदि सभी दर्शन-

सम्प्रदाय किसी-न-किसी अर्थ मे अवश्य समीचीन है तो उनके सहभाव या समुच्चय का एक सिद्धान्त मिल जाता है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा सिद्धान्त भी होना चाहिये जो इन तमाम सिद्धान्तो को गारे की तरह एक दीवाल मे जोड दे अथवा सूत्र की तरह एक माला मे पिरो दे। वह सिद्धान्त अभी किसी के विचार मे आया नही है। हेगल का विरोधियो का समुच्चय (Synthesis of opposties), क्रोचे का भिन्नसत्ताओ का समुच्चय (Synthesis of discretes) और कालिगउड का ऐतिहासिक समुच्चय या दर्शन की सामयिकता आज पर्याप्त नही है। पहला व्याघात है। दूसरा समुच्चय का अर्थ ही नही देता है। यह काम तो स्याद्वाद या वर्तमान हक ! ही देता है। कालिगउड का समुच्चय सिद्धान्त, कि प्रत्येक दर्शन अपने समय, स्थान और द्रष्टा के अनुसार सही है, दर्शन की सार्वभौमता पर प्रहार करता है। यह दर्शन की चिरन्तन-सत्यता का निराकरण करता है, जो वस्तुत समुच्चय नही, वरन् एक नया दर्शन है। अतएव कालिगउड का समुच्चय-सिद्धान्त वस्तुत समुच्चय नही है। इस प्रकार वर्तमान युग मे प्रत्येक समुच्चयवादी को वह सिद्धान्त ढूंढना है, जिससे सच्चा सर्व-दर्शन-समुच्चय हो सके। क्या तत्वज्ञान के सर्वमान्य लक्षण मे वह सिद्धान्त नही मिलता ?

दार्शनिको को जब अपना मार्ग नही सूझता तो ये किसी प्राचीन दर्शन, लोक-व्यवहार, धर्म या विज्ञान की शरण लेते हैं और दर्शन को इससे शासित करते है। भारत के दार्शनिको के लिए एक और भी शरण है। वे किसी-न-किसी वर्तमान विदेशी दर्शन का अन्धानुकरण करने लगते हैं, युग का प्रवाह समझ कर। पर यह गड्डलिका प्रवाह है। आज कितने ही भारतीय मनीषी पाश्चात्य सत्तावादी (Existentialist), तार्किक प्रत्यक्षवादी (Logical empiricist) और वस्तुवादी (Realist) की नकल बिना सोचे समझे कर रहे हैं। कुछ पाश्चात्यो को तो यह पता है कि ये दर्शन-सम्प्रदाय भारत मे घटित हो चुके हैं। पर इन भारतीयो को यह ज्ञात नही। वे इन सम्प्रदायो को विशेष शताब्दी का दर्शन समझते है। क्या अभी तक दर्शन का इतिहास यह न सिद्ध कर सका कि दर्शन किसी जाति, देश, काल, धर्म और राष्ट्र का नही होता ? वह हिन्दू, मुस्लिम, क्रिस्तान नही, पुरातन और अधुनातन नही, पूर्वी और पश्चिमी नही। वह धर्म, विज्ञान और लोक-बुद्धि से शासित नही होता। उसे यदा कदा इनसे सग्राम लेना पडता है। ये परिवर्तनशील हैं और आया-जाया करते हैं। इनमे चिरन्तनता नही है।

दर्शन—जो इनकी और अपनी समीक्षा करके अपना प्रामाण्य पेश करता है—चिरन्तन सत्य देता है। वह सब का आलोचक है ही, साथ ही अपना भी आलोचक है। इसीलिए उसकी उपेक्षा है। पर हमारे मत से इसीलिए उसकी अपेक्षा है। जो इस सत्य को जानेगा वही दार्शनिक होगा। ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।[1]

———

[1] मुण्डक उपनिषद् ३ २ ९

५

तत्वज्ञान के तीन संप्रदाय

१

तत्वज्ञान को अरिस्टाटिल ने 'मेटाफिजिक्स' कहा है जिसका अर्थ है कि तत्वज्ञान 'फिजिक्स' अर्थात् भौतिक विज्ञान के परे (पश्चात् आगे) का ज्ञान है। यह अतिभौतिकशास्त्र है। भौतिकशास्त्र भौतिक पदार्थों का अनुशीलन करता है। किन्तु इन भौतिक पदार्थों का आदि रूप क्या है और इनका अन्तिम रूप क्या है? इन प्रश्नों का विवेचन भौतिक विज्ञान नहीं करता है। इनका विवेचन जो शास्त्र करता है उसे तत्वज्ञान कहा जाता है।

[illegible] भौतिक विज्ञान जगत् का अनुशीलन करता है। इस जगत् का मूलरूप क्या है? इसकी अतिम परिणति क्या है? इन प्रश्नो का अध्ययन तत्वज्ञान करता है। एक फारसी कवि[1] ने तत्वज्ञान के इस स्वरूप की बडी [illegible] की है। उसका कहना है कि जगत् एक ऐसा पुराना हस्तलिखित ग्रन्थ है जिसका पहला पृष्ठ और अतिम पृष्ठ गायब हो गया है और सम्पूर्ण [illegible] को पढकर उसके प्रथम पृष्ठ और अतिम पृष्ठ को लिख देना [illegible] है।

[illegible] के अनुसार तत्वज्ञान सृष्टिविज्ञान है या सृष्टिविज्ञान तत्वविज्ञान है। [illegible] दर्शन मे तत्वज्ञान का यही लक्षण मान्य है। यूनानी दार्शनिक [illegible] दार्शनिक यही लक्षण मानते है। मूलतत्व (फर्स्ट प्रीन्सपुल) की खोज तत्वज्ञान है। चूकि यह मूलतत्व जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओ मे व्याप्त रहता है इसलिए इसका ज्ञान हो जाने पर जगत् की समस्त वस्तुओ के सामान्य रूप का ज्ञान हो जाता है। उपनिषद् के दार्शनिक आरुणि उद्दालक

---

१ माजि आगाज ओ जि अन्जामे जहान बिखबर—ईम।
अव्वलो—आखीरेईन कुहना किताब उफताद अस्त ॥

ने तत्वज्ञान को इसी प्रकार परिभाषित करते हुए अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा था—

"हे पुत्र श्वेतकेतु ! तुम क्या उस ज्ञान को जानते हो जिसके प्राप्त कर लेने पर समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।" जब उसके पुत्र ने इस प्रश्न का उत्तर निषेध में दिया तब पिता ने पुत्र को तत्वज्ञान की शिक्षा दी। तत्वज्ञान वह एक-विज्ञान है जिसमे सब-विज्ञान हो जाता है। सामान्यत आरुणि की परिभाषा वही है जो अरस्तू ने दी है अथवा जिसे उपर्युक्त फारसी कवि ने दिया है।

भारतीय शब्द 'वेदान्त शास्त्र' तथा 'अभिधर्म शास्त्र' तत्वज्ञान के पर्यायवाची हैं। वैदिक परम्परा मे जगत् का ज्ञान विज्ञान या वेद है और इसके पर का ज्ञान वेद+अन्त अर्थात् वेदान्त है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा मे धर्म का अर्थ पदार्थ है, धर्मशास्त्र पदार्थविज्ञान है और अभिधर्म शास्त्र अभि+धर्मशास्त्र अर्थात् धर्मशास्त्र के परे का ज्ञान है। इस प्रकार अर्थत: और व्युत्पत्ति यूनानी शब्द 'मेटाफिजिक्स' संस्कृत शब्द 'वेदान्त' और पालि शब्द 'अभिधम्म' एकार्थक हैं।

तत्वज्ञान के इस लक्षण के अनुसार तत्वज्ञान के मुख्य प्रश्न है—मूलतत्व एक है या अनेक? यदि वह एक है तो वह क्या है? ईश्वर, आत्मा, मन, अनन्त, काल, दिक्, कर्म, पृथ्वी, तेज, वायु, अग्नि, शब्द या कोई और वस्तु? यदि वह अनेक है तो वे अनेक तत्व क्या हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं? एक और अनेक का सबंध क्या है? एक से अनेक की उत्पत्ति कैसे होती है? इत्यादि।

२

आधुनिक काल मे काण्ट ने प्रमाणविज्ञान, प्रमाविज्ञान या ज्ञानमीमासा को तत्वज्ञान माना है। उसने दर्शन के इतिहास मे एक नये युग का आरम्भ किया है। उसने कहा है कि सृष्टिविज्ञान के अर्थ मे तत्वज्ञान असभव है। उसके मत से तत्वज्ञान सत् की खोज नही है किन्तु ज्ञान की खोज है। ज्ञान क्या है ? ज्ञान मे कितने तत्व हैं ? इन तत्वो का क्या सबध है ? यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान का क्या भेद है ? ज्ञान की पराकाष्ठा क्या है ? ज्ञान की कोटियाँ कितनी है ? ज्ञान के प्रकार कितने हैं ? ज्ञान के साधन कितने हैं। ये तथा ऐसे अन्य प्रश्न अब तत्वज्ञान के प्रमुख विषय हो जाते हैं।

भारत मे साख्य दार्शनिक आसुरि ने सबसे पहले ज्ञान को दर्शन कहा।[1] बाद मे गगेश उपाध्याय ने तथा उसके पहले दिग्नाग और धर्मकीर्ति ने तत्वज्ञान को मुख्यत प्रमाणविज्ञान बना दिया था। इन लोगो के सामने प्रमाण, प्रमेय और प्रमा यही तीन तत्वज्ञान के विषय है। भारतीय दर्शन मे इस परम्परा के अनुसार प्रश्न उठाया जाता है कि मान मेयाधीन है या मेय मानाधीन है। दूसरे शब्दो मे ज्ञान वस्तुतत्र है या वस्तु ज्ञानतत्र है। यह प्रश्न पश्चिमी दर्शन में सत् और ज्ञान के सम्बन्ध मे उठता है। सत् ज्ञान से स्वतत्र है या वह ज्ञान के अधीन है। जो लोग मानते हैं कि सत् ज्ञान से स्वतत्र है वे अन्ततोगत्वा सशयवाद या अज्ञेयवाद को मान लेते हैं क्योकि जो ज्ञान से स्वतत्र है उसका प्रामाणिक ज्ञान या कोई ज्ञान नही हो सकता है। फिर जो लोग सत को ज्ञानाधीन मानते हैं वे ज्ञान को ही सर्वस्व मानते हैं। उनका मत सर्वज्ञानवाद या ज्ञानैकमानवाद है।

यद्यपि ज्ञान मीमासा सत्‌मीमासा से अधिक गहन और प्रबल है तथापि उस पर भी यह मुख्य आपत्ति की जाती है कि वह शब्द के बिना सभव नही है। जो ज्ञान शब्दमय है वही ज्ञान है और जो शब्दमय नही है वह ज्ञान नही है। शब्द ज्ञान का वैसे ही आकारक है जैसे ज्ञानमीमासा के अनुसार ज्ञान सत् का आकारक है। यदि आकारक होने के नाते ज्ञान सत् की अपेक्षा परम तत्व है तो इसी तर्क के आधार पर शब्द ज्ञान की अपेक्षा अधिक परमतत्व है। अतएव शब्द-मीमासा या भाषा-विज्ञान प्रमाणविज्ञान को सर्वोच्चविज्ञान के पद से हटा देता है और उस स्थान को स्वय ग्रहण कर लेता है।

---

[1] ख्यातिरेव दर्शनम्। ख्यातिरेव दर्शनम्। —आसुरि।

ऐसा अर्थविज्ञान वास्तव मे एक अर्थतन्त्र होगा जो परमार्थदर्शन का रूप लेगा। इस परमार्थ-दर्शन को मूल्यमीमांसा भी कहा जा सकता है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि मूल्यमीमांसा का विकास भाषा-विश्लेषण से स्वतन्त्र भी हुआ है। ज्ञान-मीमांसा के विकास के अनन्तर ज्ञान-मीमांसकों ने ही स्पष्ट कर दिया था कि ज्ञान एक मूल्य है, ज्ञान के विषय मूल्य हैं और ज्ञाता पुरुष अपने ज्ञान के द्वारा मूल्यों की खोज कर रहा है। फिर सत् की मीमांसा करने वाले तत्वज्ञानियों ने भी सत् को मूल्यरहित नही माना था। सत से उनका तात्पर्य मूल्यों के उस पहलू से था जो सत् रहता है। इस प्रकार सत्-मीमांसक भी वास्तव में मूल्यों की खोज करते हैं। अत सत्-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा और शब्द-मीमांसा तीनों का मिलन-बिन्दु मूल्य है जिसे अर्थ कहा जाता है। यही अर्थ वास्तव मे तत्वज्ञान का विषय है।

यदि हम तत्वज्ञान के शब्दार्थ पर विचार कर तो तत्वज्ञान 'सत्-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा और अर्थ-मीमांसा' का सम्पूर्ण अर्थ व्यक्त करने वाला सिद्ध होगा। यदि तत्वज्ञान मे हम कर्मधारय समास करे तो पहला शब्द अर्थात् तत्व प्रधान हो जायगा और तब तत्वज्ञान का अर्थ होगा तत्व ही ज्ञान है। यह सत् मीमांसा का लक्षण है। फिर यदि 'तत्वज्ञान' मे तत्पुरुष समास मानें और उसकी व्याख्या तत्व का ज्ञान करें तब तत्त्व शब्द गौण हो जाता है और ज्ञान शब्द प्रधान हो जाता है। इस अर्थ मे तत्वज्ञान शब्द ज्ञानमीमांसा का पर्यायवाची हो जाता है। अत मे यदि हम तत्वज्ञान मे बहुव्रीहि समास करें और और इस शब्द से वह अर्थ लें जिसके, जिससे, जिसमे या जिसके लिए तत्व और ज्ञान हैं, तो इस अर्थ मे तत्वज्ञान अर्थमीमांसा को व्यक्त करेगा।

इस प्रकार भारतीय शब्द तत्वज्ञान मे सत-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा और अर्थमीमांसा तीनों के अर्थ समाविष्ट हैं। किन्तु इस कारण यह शब्द अनेकार्थक या भ्रामक नही हो जाता है, क्योंकि वास्तव मे यह तत्वज्ञान के चिरन्तन स्वरूप का परिचायक है। भारतीय दार्शनिकों ने इसीलिए तत्वज्ञान को तत्व-मीमांसा (सत्मीमांसा, सृष्टिविज्ञान), ज्ञानमीमांसा (प्रमाणविज्ञान, प्रमा विज्ञान) तथा अर्थमीमांसा (भाषा-विश्लेषण, मूल्यमीमांसा) मे अधिक उपयोगी और सार्थक पाया। यही नहीं, यह दर्शन शब्द से भी अधिक उपयोगी और सार्थक है क्योंकि दर्शन केवल ज्ञान-मीमांसा को स्पष्ट करता है और सत् मीमांसा तथा अर्थमीमांसा पर कोई प्रकाश नहीं डालता है।

अन्त मे तत्वज्ञान का सम्पूर्ण अर्थ जान लेने के पश्चात् यह कहना आवश्यक है कि वास्तव मे 'तत्व' शब्द भी तत्वज्ञान के बढते हुए अर्थ के साथ तीन अर्थ धारण कर लेता है—तत्व सत् है या सत् तत्व है, यह तत्व का पहला अर्थ है जो तत्+त्व से बनता है और जो प्रत्येक ज्ञान का या वाक्य का उद्देश्य है। तत सत का ही नाम है या सत् का सकेत है। फिर तत्व का अर्थ ज्ञान, सवित् या चित् भी हो जाता है जो ज्ञान-मीमासा के अनुसार एकमात्र सत् है। इस चित्-तत्व मे सत का नाश नही हुआ है। उलटे इसमे सत् का चित् से तादात्म्य या आत्मसात्त्व हुआ है। जब सत् स्वप्रकाश हो जाता है तब वह ज्ञान या चित् हो जाता है। फिर अन्त मे तत्व उस अर्थ के रूप मे आता है जिसमे, या जिसके, या जिसके लिए, या जिससे सत् और ज्ञान हैं। सामान्यत' भारतीय दार्शनिक तत्व को इसी रूप मे लेते हैं। वे तत्व से परमार्थ का सबोधन करते है। तत्व के इस अर्थ मे सत और ज्ञान दोनो का पूर्ण तादात्म्य होता है। इस प्रकार तत्व के सम्पूर्ण अर्थ को जान लेने पर कहा जा सकता है कि दर्शन-शास्त्र का विषय तत्व है।

———

२

बुद्धिवाद : बहुमूल्यात्मक विषयता

यह एक सर्वमान्य मत है कि मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है। किन्तु फिर भी बुद्धि के परिप्रेक्ष्य से उसे अपने दर्शन का निर्माण करने को नहीं कहा जाता। कोई कहता है कि मनुष्य को लोकज्ञान, लोकरीति, लोकपरपरा या लोकव्यवहार के अनुसार अपने दर्शन का निर्माण करना चाहिए। उनके मत से लोकज्ञान ही सर्वाधिक प्रामाणिक दर्शन है। दूसरे कहते हैं कि मनुष्य को अपने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के साक्ष्य के अनुसार अपने दर्शन की कल्पना करनी चाहिए। उनके मत मे मनुष्य के लिए सबसे प्रामाणिक मत प्रत्यक्षवाद है, जिसे कुछ लोग भूल से अनुभववाद भी कह देते हैं। फिर, अन्य लोग कहते हैं कि मनुष्य को आर्प ज्ञान या प्रातिभ ज्ञान के सहारे अपने दर्शन का अनुसन्धान करना चाहिए। उनके मत मे सबसे अधिक मानवोचित दर्शन प्रातिभवाद है, जिसे कुछ लोग अनुभववाद भी कहते हैं। लोकज्ञान, प्रत्यक्षवाद तथा प्रातिभवाद के हिमायती बुद्धि के अपने-अपने प्रयोग करते हैं। वे बुद्धि को क्रमश लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान से उत्पन्न मानते हैं। फिर, वे बुद्धि का मुख्य व्यापार क्रमश लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान को पुष्ट करना मानते हैं। इस प्रकार उनके मत मे पहले बुद्धि एक द्वैतीयक और पराधीन प्रमाण है, न कि प्राथमिक और स्वाधीन प्रमाण, और दूसरे, बुद्धि का क्षेत्र सकुचित और पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। इससे स्पष्ट है कि उनका बुद्धिवाद सच्चा बुद्धिवाद नही है। उसमे बुद्धिवाद का मात्र आभास है। यथार्थत वह या तो लोकज्ञान है, या प्रत्यक्षवाद और या प्रातिभवाद।

यदि मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी न होता तो उसके लिए लोकज्ञान, प्रत्यक्षवाद या प्रातिभवाद पर्याप्त होते। किन्तु यदि वह बुद्धिमान् प्राणी है तो कोई ऐसा वाद उसको मान्य नही हो सकता जिसमे बुद्धि की अवहेलना है या बुद्धि को पूर्वाग्रहो से ग्रस्त कर दिया गया है। अत यदि मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल कोई वाद है तो वह बुद्धिवाद है, जिसे स्वय बुद्धि निष्पक्ष आलोचना से तैयार करती है। हम इस बुद्धिवाद को समझने के लिए, इसे तथाकथित बुद्धिवादो

से, या नामधारी बुद्धिवादो से, भिन्न करने के लिए पहले बुद्धि के आवश्यक लक्षणो का परीक्षण करेंगे और तब उनके द्वारा बुद्धिवाद का प्रतिपादन करेंगे ।

बुद्धि ज्ञान का मौलिक या प्राथमिक साधन है । वह लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान से उत्पन्न नही होती है । वह मानव चेतना का लक्षण है और इस कारण मानव चेतना से उसका अपरिहार्य सम्बन्ध है । हम कह सकते हैं कि जैसे अग्नि उष्ण है या सूर्य प्रकाशवान् है, वैसे मानव-चेतना बुद्धिमान् है । बुद्धि के अभाव मे मानव-चेतना नही है और इस कारण वह अपना कोई व्यापार नही कर सकती है । यद्यपि यह सत्य है कि बुद्धि प्राय लोकज्ञान, प्रयत्क्षज्ञान या प्रातिभज्ञान को ही अपना सहकारी बनाकर कार्य करती है, तथापि इमका तात्पर्य यह नही है कि लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान बिना बुद्धि के घटते हैं । बुद्धि इन सबकी नित्य प्रागपेक्षा (Presupposition) है । यदि बुद्धि न हो तो लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान कैसे सम्भव होगे ? बुद्धि उनका ग्रहण तथा अर्थ करती है, अपने ज्ञान-सस्थान मे उनका स्थान निर्धारित करती है और उनके सामान्य लक्षणो को पहचान कर उनका उपयोग करती है । लोकज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान तथा प्रातिभज्ञान से विशेष वस्तुओ के बारे मे सूचनाएँ मिलती हैं इनके फलस्वरूप बुद्धि को अनेक विशेष प्रत्यय प्राप्त होते हैं, इनके प्राप्त करने मे भी उसे अपनी वर्गणाओ का प्रयोग करना पडता है । उदाहरण के लिए, प्रत्यक्ष के विषयो को लीजिए । ये प्रत्यय मात्र विशेष रूप से नही प्राप्त होते हैं, किन्तु किसी देश, किसी काल और किसी कारण के सम्बन्ध मे ही प्राप्त होते हैं । देश, काल और कारणता के सम्बन्ध स्वय विशेष नही हैं क्योकि वे विशेषो के सम्बन्ध हैं और जिस किसी विशेष मे उनका अन्तर्भाव किया जायगा उसके प्रत्यक्ष को उनकी प्रागपेक्षा होगी । अत ये सामान्य प्रत्यय हैं और बुद्धि मे आजानिक (Innate) है । इन्ही के माध्यम मे बुद्धि विशेष प्रत्ययो को प्राप्त करती है । क्योकि वह जिस रूप मे इनको रखती है उसी रूप मे वह इनको समझ सकती है और अन्यथा कदापि नही समझ सकती, इसलिए प्रत्ययो के हर सम्बन्ध को ही वह वस्तुओ का सम्बन्ध समझती है और इससे भिन्न वह वस्तुओ के किसी सम्बन्ध की कल्पना नही कर सकती । इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष को बुद्धि की प्रागपेक्षा है । विशुद्ध प्रत्यक्ष या सवेदना, जिसमे बुद्धि का कोई अनुदान नही है, अचिन्त्य है या बुद्धि मे अगोचर है । और जो बुद्धि मे अगोचर है उसके बारे मे कुछ कहा नही जा सकता ।

बहुतेरे कहेंगे कि सवेदो, या प्रत्यक्ष किये गये प्रत्ययो, के बार-बार घटने से बुद्धि उत्पन्न होती है। किन्तु जब सवेद स्वय बिना बुद्धि के घटित नही हो सकते, जब एक सवेद दूसरे सवेद से बिना बुद्धि के सयुक्त या सपृक्त नही हो सकता, जब सवेदो का साहचर्य, चाहे वह आकस्मिक हो या अनिवार्य, बिना बुद्धि के सभव नहीं हो सकता, जब उत्पत्ति का ज्ञान बिना कार्य-कारण की बौद्धिक वर्गणा के सम्पन्न नहीं हो सकता, तब कैसे बुद्धि को संवेद से उत्पन्न कहा जा सकता है ? वास्तव मे बुद्धि के उत्पत्ति-प्रदर्शन में सिद्ध-साधन दोष है। हम बुद्धि को जिस वस्तु से उत्पन्न दिखलायेंगे उस वस्तु को स्वय पहले बुद्धि का कारण नहीं कह सकते हैं। इससे सिद्ध है कि बुद्धि अनुत्पत्तिधर्मा है। फिर, यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि यह उत्पत्तिधर्मा है तो इसकी उत्पत्ति और इसका कारण दोनो इसके लिए अगोचर हैं और फलतः न तो उनको ग्रहण किया जा सकता है और न उनके बारे मे कोई प्राक्कथन किया जा सकता है। जो अचिन्त्य है वह अव्यपदेश्य है। जो बुद्धि को मात्र अतीतदृष्टि (Hindsight) कहते हैं वे क्या प्रथम दृष्टि तथा अतीत दृष्टियो के आनन्तर्य को बुद्धि के बिना जान सकते हैं ? स्पष्ट है कि ये सब बुद्धिगोचर हैं और इस कारण बुद्धि के जनक होने के स्थान पर स्वय बुद्धिजन्य हैं।

बुद्धि को मौलिक या प्राथमिक प्रमाण मानने का यह तात्पर्य नही है कि बुद्धि को प्रत्यक्ष की अपेक्षा नही है। काण्ट ने दर्शनशास्त्र को यह स्थायी देन दी है कि बुद्धि के अभाव मे प्रत्यक्ष अन्धा है और प्रत्यक्ष के अभाव मे बुद्धि रिक्त है। किन्तु उसने बुद्धि और प्रत्यक्ष की अन्योन्याश्रित अपेक्षा को एकरूप नहीं कहा है। बुद्धि व्यापक है और प्रत्यक्ष व्याप्य, बुद्धि सामान्यवती है और प्रत्यक्ष विशेषवान् , बुद्धि आधार है और प्रत्यक्ष आधेय। दोनो का सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि एक दूसरे का स्थान ले ले। दोनो का स्थान-परिवर्तन करना, दोनों को एकविध कहना, या दोनो मे से किसी एक को अन्य से उत्पन्न कहना, विपर्यास या अध्यास है। इस प्रकार हम कह सकते है कि प्रत्यक्ष के अपने स्थान तथा क्षेत्र हैं। किन्तु प्रत्यक्ष को बुद्धि का साधन न मानकर उलटे बुद्धि को ही प्रत्यक्ष का साधन मानना घोर व्यतिक्रम है और बुद्धि से सर्वथा अनुपपन्न है। सत्य यह है कि प्रत्यक्ष बुद्धि का साधन है और प्रत्यक्ष के द्वारा बुद्धि विषयो का ज्ञान प्राप्त करती है।

किन्तु हमें काण्ट से आगे भी जाना होगा। काण्ट ने यह समझा था कि बुद्धि प्रत्यक्ष के बिना साधनहीन है। परन्तु प्रत्यक्ष के अतिरिक्त भी बुद्धि के

अब, जैसे ज्ञान के साधन मे बुद्धि का प्रथम और मौलिक स्थान है वैसे प्रामाणिकता की दृष्टि से भी बुद्धि का प्रथम और मौलिक प्रामाण्य स्वत सिद्ध है। बुद्धि का अपना नियम बाध का नियम है जिसे बुद्धि का एक लक्षण भी कहा जा सकता है। बुद्धि कभी अपने को बाधित नही कर सकती। वह कभी बाधपूर्ण विषया को समझ नही सकती। उसके लिए सत्य वह है जो स्वय बाधित न हो और असत्य वह है जो स्वय बाधित हो जाय। इस कसौटी पर कसने से बुद्धि की पूर्ण सत्यता सिद्ध होती है। किसी प्रत्यय से बुद्धि का प्रत्याख्यान करना स्वय बाधित है। कुछ ऐसा नही सोचा जा सकता जिसमे बुद्धि का अनस्तित्व हो। यदि वह सोचा जाता है, तो बुद्धि व्यापार करती है और उसके माध्यम मे अपने अस्तित्व को प्रदर्शित करती है। यदि वह नही है तो फिर कुछ चिन्तन ही नही हो सकता। इस प्रकार कदाचित् बुद्धि का अनस्तित्व सोचना बाध है। सत्य यह है कि बुद्धि का अस्तित्व स्वयप्रकाश और अखडनीय है। वह अपने को स्वत सिद्ध करती है और ज्ञान के किसी साधन से उसके अस्तित्व का खण्डन नही किया जा सकता। जो भी ज्ञान-साधन होगा वह बुद्धि का व्यापार होगा। अत यह व्याघात होगा कि वह बुद्धि के अनस्तित्व का ज्ञापक हो।

जो लक्षण बुद्धि का है वही ज्ञान के अन्य साधनो का नही है। ज्ञान के अन्य साधन स्वयप्रकाश और अखण्डनीय नही है। लोकपरपरा या लोक-व्यवहार से जो ज्ञान होता है वह मात्र आस्था पर आधारित है। वह विशुद्ध जनश्रुति या किवदन्ती है। वह अपना प्रामाण्य नही पेश कर सकता। अन्य प्रमाणो से वह सत्यापित होता है। यदि वह बुद्धि के प्रामाण्य से, अर्थात् बाध के नियम मे, पुष्ट है तो हम उसे सत्य कहेंगे, और अपुष्ट है तो असत्य। फिर, यदि वह प्रत्यक्ष से सत्यापित है तो हम उसके प्रामाण्य को प्रत्यक्षवत् मानेंगे। अन्तत यदि वह प्रातिभज्ञान के प्रामाण्य से सत्यापित है तो हम उसे प्रातिभज्ञान की भाँति प्रामाणिक मानेंगे। और यदि वह इनमे से किसी से भी सत्यापित नही हो सकता, जैसे यह ज्ञान कि अमुक व्यक्ति अमुक व्यक्ति का पिता है, तो हम इस ज्ञान को न तो सत्य कह सकते हैं और न असत्य। किन्तु इस कारण यह निरर्थक बकवास नहीं है। यह एक सार्थक ज्ञान है और बुद्धि मे चिन्त्य है। इसकी सत्यता को हम व्यावहारिकता या व्यवहार्यता कहेंगे। बुद्धि इस ज्ञान को उपयोग की कसौटी पर कसती है। जो उपयोगी है वह व्यवहार्य है और जो अनुपयोगी है वह अव्यवहार्य।

अब प्रत्यक्ष को लीजिए। प्रत्यक्ष से जो ज्ञान होता है वह स्वयं प्रामाणिक नहीं है। उसको परत प्रामाण्य की अपेक्षा है। यह प्रामाण्य बुद्धि निश्चित करती है। बुद्धि प्रत्यक्ष के विषयों के प्रामाण्य की कसौटी निर्धारित करती है। कभी-कभी वह अपनी ही कसौटी से, अर्थात् बाध के नियम से, इन विषयों को कसती है। इस पर प्रत्यक्ष के विषय सब असत्य सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक का विरोधी विषय बुद्धि से चिन्त्य है। अत कुछ बुद्धिवादी लोग प्रत्यक्ष के सभी विषयों को बाधग्रस्त सिद्ध करते हैं और उन्हें मात्र आभास या पहेली मानते हैं। किन्तु दूसरे लोग कहते हैं कि यदि प्रत्यक्ष के विषय बाधग्रस्त होते तो उनका ज्ञान ही असम्भव था, क्योंकि बाधपूर्ण विषय पूर्ण अगोचर हैं। उनके ज्ञान से स्पष्ट है कि वे अत्यन्त असत्य या मात्र असत्य नहीं हैं। अत उनका कथन है कि बाध का नियम प्रत्यक्ष के विषयों की कसौटी नहीं हो सकता। उनकी कसौटी वह व्यापक नियम है जिसे बुद्धि उनमें देखती है। बुद्धि देखती है कि वे विषय बार-बार घटते हैं। इससे वह उनको प्रायिक मानती है और उनकी प्रामाणिकता को सत्यता से भिन्न प्रायिकता (Probability) का नाम देती है। प्रत्यक्ष के विषयों का जो साहचर्य है यदि उससे उनका उत्पन्न होना सिद्ध है तो हम उनको प्रायिक कहेंगे। उदाहरण के लिए एक वाक्य लीजिए, कल प्रात सूर्य पूर्व में निकलेगा। यह वाक्य न तो सत्य है और न असत्य। यह मात्र प्रायिक है। हम अपने अतीत अनुभव के आधार पर कहते हैं कि कल पूर्व में सूर्योदय होगा। अतीत में हमने सदा पूर्व में प्रात सूर्योदय देखा है। इससे हमारी बुद्धि में प्रात, पूर्व और सूर्योदय में एक सबंध स्थापित हो गया है। इस ज्ञान के आधार पर ही हम प्रतिदिन प्रात पूर्व में सूर्योदय देखने की प्रत्याशा करते हैं। यह भी संभावना है, यद्यपि अप्रायिक है, कि कल प्रात पूर्व में सूर्योदय न हो। एक दूसरे उदाहरण में प्रत्यक्ष के विषयों की प्रायिकता और स्पष्ट हो सकती है। मान लीजिए, मैंने बहुत दिनों से अपने कमरे में एक मेज देखी है, या प्रयाग में गंगा के किनारे एक पीपल का पेड देखा है। हम इन दृश्य विषयों को सत्य नहीं कह सकते क्योंकि यह संभव है कि हम उनके स्थान पर कोई अन्य विषय देखें। किन्तु इससे वे असत्य नहीं हो जाते। वे प्रायिक हैं और इस कारण हम उनको सदा उनके स्थान पर देखने को तैयार रहते हैं। प्रायिकता को हम व्यवहार में सत्य कह देते हैं, किन्तु वास्तव में वह सत्य नहीं अपितु सत्यप्राय है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के विषयों का प्रमाण सत्यता-असत्यता के आधार पर न होकर प्रायिकता-अप्रायिकता के आधार पर है। जो प्रत्यक्ष-विषय बार-

ार घटते हैं वे प्रायिक है और जो एक बार या कभी २ घटते हैं वे अप्रायिक हैं। अप्रायिक विषयो को हम सामान्यत. असत्य कहते हैं किन्तु अप्रायिकता का आधार असत्यता के आधार से भिन्नविध है। इस कारण जो अप्रायिक है वह असत्य नही है।,

किन्तु प्रायिकता-अप्रायिकता की कोटि प्रत्यक्ष के विषयो के प्रामाण्य मे पर्याप्त नही हैं। इस कोटि के अतिरिक्त भी बुद्धि उनको यथार्थ और अयथार्थ की कोटि मे रखती है। जो विषय अपने अर्थ के अनुकूल होते हैं उन्हे यथार्थ और जो प्रतिकूल होते हैं उन्हे अयथार्थ कहा जाता है। किन्तु उनका क्या अर्थ है जिसके अनुकूल या प्रतिकूल होने से उनका मूल्याकन किया जाता है? उस अर्थ को कोई उन विषयो की व्यवहार्यता, कोई उनकी सुसगति, तो कोई उनका और उनके मूल्यो का सवाद कहता है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि व्यवहार्यता, सुसगति और सवाद बुद्धिगोचर हैं और वे स्वय प्रत्यक्ष के विषय नही हैं। पुनश्च व्यवहार्यता और सुसगति तो स्पष्ट ही बुद्धि के अपने प्रतिमान हैं, प्रथम उसके लिए उपयोगिता है और द्वितीय उसके बाध के नियम का पालन है। अब रही सवाद की बात। प्रत्यक्षवादी प्रत्यक्ष के विषयो का सवाद उनके मूल विषयो से करते हैं। उन दोनो मे वे कुछ अन्तर करते हैं। मूल विषयो के ज्ञान मे वे बुद्धि का कुछ अनुदान नही मानते और प्रत्यक्ष-विषयो के ज्ञान मे वे बुद्धि के अनुदान को स्वीकार करते हैं। जो विषय बुद्धि से अगोचर हैं उनके बारे मे न तो हमे कुछ ज्ञान हो सकता है और न हम उनके बारे मे कुछ कह सकते हैं। अत प्रत्यक्षवादियो की यह मान्यता कि कुछ ज्ञान-विषय हैं जो बुद्धि से अगोचर हैं, पूर्णतया असगत है। और इससे सवाद के सिद्धान्त की भी असगति स्पष्ट हो जाती है। फलत' प्रत्यक्ष के विषयो की यथार्थता या अयथार्थता का प्रतिमान उनकी व्यवहार्यता या सुसगति है।

अब क्योकि प्रत्यक्ष के विषयो का प्रमाण स्वय प्रत्यक्ष नही हो सकता इसलिए प्रत्यक्ष की प्रामाणिता सरासर बुद्धि पर निर्भर है। बुद्धि ही प्रत्यक्ष के विषयो का प्रमाणीकरण करती ह। किन्तु प्रत्यक्षवादी प्राय चिल्लाते है कि प्रत्यक्ष अपना प्रमाण स्वय पेश करता है और प्रत्यक्ष के विषयों के प्रामाण्य की कसौटी प्रत्यक्षसिद्ध है। जब उनसे पूछा जाता है कि क्या यह कसौटी वैसे ही प्रत्यक्ष की जाती है जैसे कोई प्रत्यक्ष-विषय, तो वे निरुत्तर हो जाते हैं, और या। ये जो उत्तर देते हैं वे बुद्धि की समझ के बाहर हैं। इतने पर भी य वे चिल्लाते हैं तो उनके कोलाहल को बकवास न कहा जाय तो क्या कहि जाय?

अब हम आर्षज्ञान या प्रातिभज्ञान के प्रामाण्य को लेते हैं। जो लोग कहते हैं कि यह ज्ञान बुद्धि से अगोचर है और बौद्धिकज्ञान का विरोधी है, उनकी बात असम्भव है। फिर जो असभव है वह बकवास है। किन्तु जो लोग कहते हैं कि यह ज्ञान बुद्धिसम्मत है और इसमे बौद्धिकज्ञान का पूर्ण परिपाक होता है, उनकी बात सभव है। यद्यपि यह बुद्धिसम्मत प्रातिभज्ञान प्रायिक नही है तथापि यह असभावना है। जो लोग कुछ प्रत्यक्षवादियो की भाँति प्रायिकता को ही सभावना और अप्रायिकता को असभावना मान बैठे हैं उनके अनुसार प्रातिभज्ञान का विषय अप्रायिक होने के कारण असभव है। किन्तु यदि अप्रायिकता और असभावना मे कुछ भेद बुद्धिगोचर है तो प्रातिभज्ञान का विषय अप्रायिक होने के कारण असभव नही है। यदि प्रश्न किया जाय कि चन्द्रलोक मे मनुष्य हैं कि नही, तो हम अपने समग्र अनुभव से कहेगे कि चन्द्र के वातावरण और पृथ्वी के वातावरण मे प्रायिक साम्य नही है और इस कारण चन्द्रलोक मे मनुष्यो का होना अप्रायिक है। किन्तु यह अप्रायिकता असभावना नही है। सभव है कि चन्द्रलोक मे मनुष्य या मनुष्य जैसे प्राणियो का निवास हो। इस प्रकार बुद्धि अप्रायिकता और असभावना मे भेद करती है। इस भेद के फलस्वरूप वह प्रातिभज्ञान और उसके विषय को सभव मानती है। प्रातिभज्ञान को ऐक्यज्ञान तथा उसके विषय को परमेश्वर या परमार्थ कहा जाता है। परमार्थ प्रातिभज्ञान के लिए यथार्थ है किन्तु बुद्धि के लिए मात्र सभव।

बुद्धि के व्यापार को प्राय तर्क कहा जाता है। यदि तर्क का अर्थ व्यवहित ज्ञान है तो सचमुच यह बौद्धिक ज्ञान का पर्याय है। किन्तु यदि तर्क का तात्पर्य पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान से है तो यह एक उत्कृष्ट बौद्धिक ज्ञान है। यद्यपि इस रूप मे तर्क बुद्धि मे सदा निहित रहता है तथापि इसका विकास कुछ निमित्त पाकर होता है। जब यह विकसित हो जाता है तब यह बुद्धि का लक्षण बन जाता है और बुद्धि इसका परिहार करने मे असमर्थ हो जाती है। तर्क का परिहार बुद्धि का सत्यानाश होगा। अत बुद्धि के इस लक्षण से ही सिद्ध है कि वह तर्कसगत हो। यही कारण है कि हम तर्क से दूषित या असगत कथनो को अबौद्धिक अपलाप या बकवास कहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या तर्क से बुद्धि का प्रामाण्य निश्चित होता है? आपातत यह प्रश्न व्यर्थ प्रतीत होता है क्योंकि जो तर्क स्वय बुद्धि का व्यापार है वह कैसे बुद्धि को अनिश्चित तथा अप्रामाणिक ठहरा सकता है? किन्तु इस प्रश्न को बहुतो ने उठाया है। उन्होंने तर्क दिए हैं कि तर्क से बुद्धि सशय करती है और इस कारण वह किसी निश्चित ज्ञान को नही प्राप्त कर सकती है।

उनका दावा है कि तर्कात्मक ज्ञान कभी स्वत प्रामाणिक नहीं हो सकता क्योंकि एक तर्क का दूसरे तर्क से, दूसरे तर्क का तीसरे तर्क से, और इसी परपरा से समस्त तर्कों का खण्डन होता जाता है। किन्तु तनिक भी विचार करने से ज्ञात होता है कि आत्म-खण्डन की यह प्रवृत्ति तर्क का दूषण न होकर भूषण है। इससे तर्कात्मक ज्ञान का स्वत प्रामाण्य असिद्ध नहीं हो जाता। उल्टे, वह रक्तबीज की भांति और प्रकट होता है। यह सिद्ध करता है कि तर्कात्मक ज्ञान अपना कटु आलोचक है। वह अपनी पूर्ण आलोचना करता है। जितनी सभव कोटियाँ हो सकती हैं उन सब के परिप्रेक्ष्य से वह ऊहापोह करता है। किन्तु इन सब तर्कों के अन्तरात्म मे बुद्धि निहित है। ये सब बुद्धि की किरणें हैं जिनके प्रकाश मे वह अपने विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है। यदि इन किरणों से विषयों के पृथक् अस्तित्व का खण्डन हो जाता है तो उससे बुद्धि की असत्ता या बौद्धिक ज्ञान की असमर्थता नहीं सिद्ध होती। उससे केवल यह सिद्ध होता है कि बुद्धि का ही एकमात्र अस्तित्व है और उसके प्रकाश मे सभी विषय अन्तर्धान हो जाते हैं।

दर्शनशास्त्र के इतिहास मे तर्कों की पारस्परिक खण्डन-प्रवृत्ति के दो विशुद्ध उदाहरण हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ अप्रासगिक न होगा। पहला उदाहरण है अद्वैत वेदान्त का जिसने अध्यारोप और अपवाद की प्रणाली से ऐसे तर्कों को शृखलाबद्ध किया है। प्रत्येक अध्यारोपात्मक तर्क अपवादात्मक तर्क से खण्डित हो जाता है। किन्तु अपने खण्डन के अनन्तर ही वह एक दूसरे अध्यारोपात्मक तर्क को उत्पन्न कर देता है। यह दूसरा अध्यारोपात्मक तर्क भी पुन किसी अन्य अपवादात्मक तर्क से खण्डित हो जाता है। और खण्डन की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक अध्यारोप और अपवाद की कोटि से तर्क अपने को उन्मुक्त करके मात्र बुद्धि की स्वयप्रकाशता नहीं हो जाता। इस प्रकार समग्र खण्डनकर्त्ता के अस्तित्वका अतिशय बोध होता है। दूसरा उदाहरण हेगलवाद का है। प्रतिवाद (Antithesis) वाद (Thesis) का खण्डन करता है और अविवाद (Synthesis) प्रतिवाद का। इस प्रकार वाद-प्रतिवाद-अविवाद के एक त्रिक है जिसमें पूर्वपूर्व को उत्तरोत्तर खण्डित करता है और अन्तिम, अर्थात् अविवाद, सिद्ध होता है। अविवाद से वाद और प्रतिवाद बहिष्कृत नहीं होते प्रत्युत समन्वित होते है। वाद और प्रतिवाद का खण्डन इसलिए होता है कि वे एकागी है और एक दूसरे के व्यवच्छेदक हैं। अविवाद दोनों का सग्राहक है। इस कारण एक ओर जहाँ वह दोनों का खण्डन करता है वहीं दूसरी ओर वह दोनों का समन्वय करता है। किन्तु एक ही त्रिक से

तर्क के इस खण्डन-समन्वय का अन्त नही हो जाता। एक त्रिक से दूसरा त्रिक उद्भूत होता है और दूसरे त्रिक से तीसरा त्रिक और एवमादि। इन अनेक त्रिको मे पूर्वपूर्व त्रिक का अविवाद उत्तरोत्तर त्रिक का वाद हो जाता है। यह वाद अपना प्रतिवाद उत्पन्न करता है और प्रतिवाद अपना अविवाद। इस प्रकार सभी त्रिक एक-दूसरे से सबधित हैं। त्रिको की यह शृखला आत्यन्तिक तर्कणा पर आधारित है जो अन्तत उस त्रिक मे शान्त होती है जिसका अविवाद स्वय बुद्धि है। इस प्रकार तर्कों की खण्डनात्मक प्रवृत्ति अन्ततः बुद्धि के प्रामाण्य और प्राथमिकता को सत्यापित करती है।

अद्वैत वेदान्त और हेगलवाद के उदाहरणो से यहाँ यह तात्पर्य न लगाना चाहिए कि बुद्धिवाद के मात्र ये ही दो प्रकार हैं। इसका तात्पर्य केवल यह दिखाना है कि सशय और खण्डन बुद्धि के प्राथमिक प्रामाण्य को असिद्ध नही करते प्रत्युत उसको भूरिश सत्यापित करते हैं।

अभी तक के विवेचन से हमने सिद्ध किया है कि बुद्धि मौलिक और प्राथमिक ज्ञान-साधन है और इसका प्रामाण्य भी प्राथमिक तथा अखण्डनीय है। बुद्धि के अतिरिक्त जनश्रुति, प्रत्यक्ष तथा प्रातिभज्ञान ज्ञान-साधन हैं, किन्तु ये स्वतन्त्र साधन न होकर बुद्धि के सहकारी साधन हैं। प्रामाण्य की दृष्टि से बुद्धि का प्रामाण्य सत्य है, जनश्रुति का प्रामाण्य व्यावहारिक है, प्रत्यक्ष का प्रामाण्य यथाथ, व्यावहारिक और प्रायिक है तथा प्रातिभज्ञान का प्रामाण्य सम्भव है। इससे बुद्धि के साक्षात् विषय सत्य या असत्य हैं। जनश्रुति के साक्षात् विषय व्यावहारिक या अव्यावहारिक हैं। प्रत्यक्ष के साक्षात् विषय यथार्थ या अयथार्थ, व्यावहारिक या अव्यावहारिक और प्रायिक या अप्रायिक हैं। और, प्रातिभज्ञान के साक्षात् विषय सभव या असम्भव हैं। इनमे से असम्भावना को छोडकर प्रत्येक के बारे मे कुछ प्रकथन किया जा सकता है, जो निरर्थक नही होगा। किन्तु प्रत्येक का सत्यापन और व्याख्यान मात्र बुद्धि के व्यापार से होता है।

सत्यता-असत्यता, प्रायिकता-अप्रायिकता, व्यवहार्यता-अव्यवहार्यता, यथार्थता-अयथार्थता और सम्भावना-असम्भावना को हम प्रामाण्य-अप्रामाण्य की कोटियाँ कह सकते हैं। प्राय प्रामाण्य की दो ही कोटियाँ, अर्थात् मात्र सत्यता और असत्यता, मानी जाती है। किन्तु इन दो कोटियो के अतिरिक्त भी उपर्युक्त कोटियाँ हैं और ये दो कोटियाँ सर्वसग्राहक नही हैं। यद्यपि उपर्युक्त कोटियो के पाँचो युग्मो मे भिन्न-भिन्न प्रतिमान हैं, जिन्हे हम प्रामाण्य के विविध आयाम

कह सकते हैं, तथापि उनको हम प्रामाण्य के एक तारतम्य में रख सकते हैं। इस तारतम्य को जानने के लिए अप्रामाण्य से चलना सरल है।

स्पष्ट है कि सबसे बडा अप्रामाण्य असभावना का है, क्योंकि यह बुद्धि से अगोचर है और इस कारण इसकी न तो कल्पना की जा सकती है और न इसके बारे मे कुछ कहा जा सकता है। यह विशुद्ध बकवास है। इसके अनन्तर हम अव्यवहार्यता को ले सकते है। जिस विषय का प्रामाण्य मात्र व्यवहार्यता पर निर्भर है उसकी अव्यवहार्यता असम्भावना के समीपतर है। फिर बुद्धि जिस विषय का कुछ भी व्यवहार नही करती उसका होना और न होना दोनो बराबर हैं। वह यदि अर्थशून्य नही तो अर्थशून्यवत् अवश्य है। इस कारण अव्यवहार्यता असम्भावना के सन्निकट है। किन्तु यह उससे अधिक प्रामाणिक है क्योंकि यह अचिन्त्य नही है।

अव्यवहार्यता के पश्चात् हम असत्य को ले सकते हैं। असत्य वह है जो स्वय बाधित हो जाता है। वह अप्रमाण है। किन्तु उसका अप्रामाण्य अचिन्त्य नही है। वह चिन्त्य है। जो विषय असत्यापित होता है, उसका ग्रहण होता है, परीक्षण होता है और असत्यापन के पूर्व कुछ उपयोग भी होता है। इस प्रकार वह बिलकुल अप्रामाणिक नहीं है। वह असम्भावना और अव्यवहार्यता से उच्चतर है। पुनश्च, असत्यता से भी उच्चतर अयथार्थता है, क्योंकि जहाँ असत्यता बाध है वहाँ अयथार्थता मात्र प्रतिकूलता है। जो विषय अपने प्रमाणीकरण के प्रतिकूल रहता है वह अयथार्थ कहा जाता है और जो उससे बिलकुल नष्टप्राय हो जाता है वह असत्य कहा जाता है। इस प्रकार अयथार्थता असत्यता से अधिक प्रामाणिक है।

अयथार्थता के पश्चात् हम सम्भावना को ले सकते हैं। सम्भावना अप्रामाण्य और प्रामाण्य दोनो हो सकती है। किन्तु वह दोनो से भिन्न है। वह दोनो के मध्य मे है। सम्भावना से लेकर असम्भावना तक पाँच अप्रामाण्य के स्तर हैं। और सम्भावना से ही वास्तव मे प्रामाण्य का स्तर आरम्भ होता है।

सम्भावना से अधिक प्रामाणिक अप्रायिकता है। जो वस्तु एक बार भी घटती है वह अप्रायिक है। किन्तु सम्भावना तो वह है जो यद्यपि एक बार भी नही घटती है तथापि जिसकी घटना का कोई अवरोधक नहीं है। अत. स्पष्ट है कि अप्रायिकता सम्भावना से अधिक प्रामाणिक है।

फिर जो व्यवहार्य है वह अप्रायिक से अधिक प्रामाणिक है क्योंकि वह जितना उपयोगी है उतना अप्रायिक विषय नही। और, व्यवहार्य विषय से भी

अधिक प्रामाणिक वे विषय हैं जो यथार्थ हैं क्योंकि यथार्थ विषयो का जितना स्पष्ट और सुसगत ज्ञान होता है उतना मात्र व्यवहार्य विषयो का नही। किन्तु यथार्थ विषय उतने प्रामाणिक नही है जितने प्रायिक विषय, क्योंकि यदि प्रायिक विषय सत्यप्राय हैं, अर्थात् सत्य के समीपतर हैं, तो यथार्थ विषय केवल सत्य के अनुकूल है। इस प्रकार प्रायिकता यथार्थता से अधिक प्रामाणिक है। अन्तत सत्य का प्रामाण्य है जो सबसे बडा प्रामाण्य है और जिसका लक्षण कभी बाधित न होना है।

हम प्रामाण्य को पहले और अप्रामाण्य को बाद मे रखकर सत्यता से लेकर असम्भावना तक की कोटियो को एक तारतम्य मे रख सकते है जो इस प्रकार का होगा—

प्रामाण्य से अप्रामाण्य तक

१ सत्यता २ प्रायिकता ३ यथार्थता ४. व्यवहार्यता ५ अप्रायिकता ६ सम्भावना ७ अयथार्थता ८. असत्यता ९. अव्यवहार्यता १० असम्भावना।

अब यह जानना आवश्यक है कि प्रामाण्य का तारतम्य बुद्धि का आवश्यक व्यापार है। बुद्धि के पास जितने प्रत्यय है यदि वह उन सब को एक ही कसौटी पर कसने लगे तो अनेक प्रत्ययो का सत्यानाश हो जाय। जो लोग प्रामाण्य के तारतम्य का परीक्षण करते हैं उनका सिद्धान्त नितात वितथ है। प्रत्ययो के विभिन्न स्रोत या साधन, जिनसे वे प्राप्त होते हैं और उनके विभिन्न व्यापार तथा उपयोग इस तथ्य को सिद्ध करते हैं कि उनके प्रामाण्य के विविध आयाम हैं।

अन्त मे हम बुद्धि के एक और लक्षण पर विचार करेगे। यह लक्षण है प्रयोजन। बुद्धि नित्य प्रयोजनवती है। वह कभी निष्प्रयोजन व्यापार नही करती। ज्ञान के विषयो को प्राप्त करने मे उसका प्रयोजन है उनका अर्थ करना, उनको एकीकृत करना और यथाशक्ति उनको व्यवहार्य बनाना। एकीकरण के ही परिप्रेक्ष्य से वह किसी दार्शनिक संस्थान की उद्भावना करती है। किन्तु इस उद्भावना मे इसके व्यापार की इतिश्री नही हो जाती। वह अनिवार्यत कर्मोन्मुख है इसीलिए बुद्धि को कर्मानुसारिणी (बुद्धि कर्मानुसारिणी), अर्थात् कर्म का अनुसरण करने वाली, कहा गया है। यहाँ कर्म का अर्थ प्रारब्ध कर्म नही किन्तु वह प्रयत्न-व्यापार है जो बौद्धिक प्रयोजन के फलस्वरूप प्रादुर्भूत होता है। इससे प्रकट है कि बुद्धि मात्र ज्ञाता नही अपितु कर्त्ता भी है।

प्राय' प्रयत्न को इच्छा का व्यापार कहा जाता है और बुद्धि तथा इच्छा मे केवल भेद ही नही प्रत्युत पार्थक्य भी किया जाता है। इसके कारण बुद्धि को मात्र ज्ञाता माना जाता है। किन्तु इतने पर भी कहा जाता है कि बुद्धि अपने सामने एक प्रयोजन रखती है। अब प्रश्न है कि यदि बुद्धि प्रयोजन रख सकती है तो क्या वह कर्त्ता नही है? जो लोग कहते हैं कि बुद्धि प्रयोजनवती होते हुए भी कर्त्ता नही है उनके मत से बुद्धि अपने प्रयोजन को कार्यान्वित नही कर सकती। फिर उनके मत से इच्छा ज्ञानस्वरूपिणी नही है और इसलिए उसके सामने बुद्धि का प्रयोजन उपस्थित नही हो सकता। फलत' बुद्धि का प्रयोजन कार्यान्वयन से नित्य वचित रहता है। यह है कोरा बुद्धिवाद और कोरा इच्छावाद का विभेद जो प्रथम को पगु या निष्क्रिय बना देता है और द्वितीय को अन्ध या अज्ञ।

क्या प्रयोजन की उद्भावना यह सिद्ध नही करती कि बुद्धि मात्र ज्ञाता न होकर कर्त्ता भी है? यदि बुद्धि प्रयोजन कर सकती है तो यह कहना कि वह अपने प्रयोजन के कार्यान्वयन मे अग्रसर नही हो सकती, हास्यास्पद है। प्रयोजन मे ज्ञान-शक्ति और इच्छा-शक्ति का सम्मेलन होता है। इस कारण प्रयोजन की उद्भावना ही उसके कार्यान्वयन की सभावना है। इस सभावना को चाहे इच्छा कार्यान्वित करे या बुद्धि, किन्तु मूलत दोनो मे कोई अन्तर नही है। इच्छा-बुद्धि या बुद्धि-इच्छा का मौलिक व्यापार अपने समक्ष एक प्रयोजन प्रस्तुत करना है। जब प्रयोजन के कार्यान्वयन मे व्यापार आरम्भ होता है तो हम इस व्यापार करने वाली शक्ति को इच्छा कह देते हैं। किन्तु प्रयत्न करने वाली शक्ति की मूल प्रेरणा या प्रवर्त्तना वह बुद्धि है जो प्रयोजन प्रस्तुत करती है।

बुद्धि को कर्मानुसारिणी या कर्मपथगामिनी मानने से कोरा बुद्धिवाद दूर हो जाता है और यथार्थ बुद्धिवाद स्पष्ट हो जाता है।

अब प्रयोजन के दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि समस्त ज्ञेय विषयो की प्रागपेक्षा मात्र सामान्यवती बुद्धि या कोरी'बुद्धि नही प्रत्युत कर्मानुसारिणी बुद्धि या प्रयोजनवती बुद्धि है। विषयो के ज्ञान का आधार जैसे ज्ञानस्वरूपिणी सामान्यवती बुद्धि की विधा है वैसे सत्यतः सप्रयोजनता बुद्धि का अनिवार्य लक्षण है। इस कारण ज्ञान-विधा प्रयोजन-विधा है। अत बुद्धि के विषय मात्र ज्ञान-विषय नही अपितु प्रयोजन के भी विषय हैं। इस दृष्टि से उनको मात्र विषय या ज्ञेय न कहकर मूल्यान्वित विषय या

मूल्य (Value) कहा जाता है। कोई ऐसा विषय नहीं है जो मूल्यांकित न हो। प्रत्येक विषय का कुछ प्रयोजन या अर्थ (value) रहता है। इसी कारण उसको 'अर्थ' कहा जाता है। उनमें से जिसका प्रयोजन निरपेक्ष रहता है उसे परमार्थ कहा जाता है। साधारण अर्थ से लेकर परमार्थ तक अर्थों की एक पद्धति है, एक सोपान है। प्रत्येक विषय इस पद्धति के किसी अर्थ का स्थान या अधिष्ठान या निमित्त है। इसी कारण हम उसको वस्तु कहते हैं। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि वस्तु पद मूलतः उपपद था और कथावस्तु, व्रणवस्तु, वादवस्तु, धर्मवस्तु, आदि समस्त पदों में व्यवहृत होता था। इन प्रयोगों में वह अधिष्ठान या आश्रय का वाचक था। उदाहरण के लिए कपिल के अधिष्ठान को कपिलवस्तु, व्रण के अधिष्ठान को व्रणवस्तु और कथा के अधिष्ठान को कथावस्तु कहा जाता था। इस प्रयोग के अनुसार ही प्रत्येक विषय को अर्थवस्तु या अर्थ अर्थात् मूल्य का अधिष्ठान कहा जाने लगा। परन्तु क्योंकि सभी विषय किसी-न-किसी अर्थ के अधिष्ठान हैं इस कारण इन विषयों को मात्र वस्तु पद से संकेत किया गया और जिन अर्थों के ये अधिष्ठान थे उनका प्रत्याहार कर दिया गया। इस प्रकार वस्तु शब्द उपपद से पद बना और मात्र अधिष्ठान के वाचक से अधिष्ठाता का वाचक हो गया। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि यह शब्द मूलतः और यथार्थतः वास-स्थान का वाचक है और प्रत्येक विषय को वस्तु इसलिए कहा जाता है कि वह किसी-न-किसी अर्थ या प्रयोजन का वासस्थान है।

वस्तुवाचक पदों में यथार्थ और तथ्य का भी उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। यथार्थ का भी तात्पर्य वह विषय है जो अर्थ के अनुकूल अर्थात् अर्थ-जैसा या यथा-अर्थ हो। प्रत्येक विषय यदि किसी अर्थ के अनुकूल है तो निःसन्देह वह यथार्थ है। फिर, उसी को तथ्य इसलिए कहा जाता है कि वह यथातथ्य है अर्थात् तथता के अनुकूल है। तथता परमार्थ या परम मूल्य का वाचक है क्योंकि वह जैसा है—वैसा-ही है। वह अद्वितीय है। तथता का तात्पर्य अर्थों के उस सोपान से भी हो सकता है जिसमें सभी अर्थ स्थाने या यथास्थान हैं। इस प्रकार ज्ञेय विषयों के लिए हमारी भाषा में जितने पद हैं वे सब इस बात के प्रमाण हैं कि वे मात्र कोरे ज्ञान के विषय नहीं हैं अपितु प्रयोजनवान् ज्ञान के सार्थक विषय हैं। दूसरे शब्दों में वे मूल्यांकित वस्तुएँ हैं या अर्थ हैं। अतः ज्ञान मात्र विषयाकारक नहीं है। वह अर्थ-ग्रहण है।

किन्तु इस समय कुछ लोग वस्तु, तथ्य, यथार्थ, और अर्थ को ही नही प्रत्युत परमार्थ को भी मात्र विषय के रूप मे प्रयोग करते है। वस्तु पद मात्र अधिष्ठान का वाचक होने से इस रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है। किन्तु कैसे तथ्य, यथार्थ, अर्थ और परमार्थ पद मात्र विषय के वाचक हो सकते है, यह वुद्धि के ग्रहण से परे है। ये पद किसी मूल्याकन या मानाकन व्यापार के कर्म हैं। जो अर्थकर है वह अर्थ है, जो तथता के योग्य या अनुरूप है वह तथ्य है, जो अर्थ के अनुकूल है वह यथार्थ है, और जो अर्थ के परम अनुकूल है वह परमार्थ है। इस प्रकार प्रत्येक पद अपने मानाकन का सकेत करता है। इतने पर भी जो लोग इन पदो का प्रयोग मात्र विषयाकारक रूप मे करते है उन्हें भाषा का अनर्थ करने वाला न समझा जाय तो और क्या समझा जाय ?

प्रत्येक वस्तु के अर्थ को जानना वास्तव मे उस अर्थ या प्रयोजन को जानना है जिसका वह अधिष्ठान है। स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु का यह अर्थ वुद्धि ही वतला सकती है और प्रत्यक्ष इसकी सूचना कदापि नही दे सकता। कारण, उस अर्थ को जानने मे सामान्य और प्रयोजन का ज्ञान निहित है और यह ज्ञान वुद्धि की वह उपज्ञा है जो प्रत्यक्ष की सीमा के परे है।

यह कहना कि प्रत्यक्ष के विषय मात्र सवेद्य गुणो के सघात हैं और वे अर्थ या प्रयोजन के वास-स्थान नही है, समस्त वौद्धिक ज्ञान के विरुद्ध है। यदि हम उनको सवेद्य गुणो का सघात भी मानें तो हमे मानना पडेगा कि इस सघात का सूत्र वह प्रयोजन है जो उनके अर्थ को निर्धारित करता है। विना इस प्रयोजन-सूत्र के उनका विश्लेपण करना वास्तव मे मन के लड्डू खाना है।

अव हम इस चर्चा को और आगे न वढाकर यही समाप्त करना चाहते हैं। वुद्धिवाद के मूलभूत सिद्धान्तो का हमने विवेचन कर लिया है। उपसहार मे यह कहना अनावश्यक न होगा कि वुद्धिवाद का मुख्य लक्ष्य ज्ञान—विपयो का स्पष्ट करना, उनका सत्यापन करना तथा उनके प्रयोजन या अर्थ को दिखलाकर हमे सच्ची देशना और प्रवर्तना या कर्म करने की प्रेरणा देना है। इसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि ज्ञान, प्रयत्न तथा कथन के प्रमाणीकरण का एकमात्र आधार वुद्धिगोचरता है। इस सिद्धान्त के विरोध मे जो अन्य सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं वुद्धिवाद उनकी आलोचना करता है और इससे लाभ उठाकर अपने को और दृढ करता है।

४

प्रातिभ ज्ञान का स्वरूप

वैशेपिक मतानुसार बुद्धि विद्या तथा अविद्या दो प्रकार की होती हैं। विद्या-बुद्धि प्रमा है और अविद्या-बुद्धि अयथार्थ या अप्रमा। विद्या-बुद्धि भी प्रत्यक्ष, लैङ्गिक, स्मृति तथा आर्प चार प्रकार की होती है। आर्प विद्या-बुद्धि अतीत तथा अनागत वस्तु का ज्ञान है। नैयायिक इसे योगियो के अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते है। प्रशस्तपाद कहते हैं—

"आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वर्थेष्वतीन्द्रियेपु धर्मादिपु ग्रन्थोपनिवद्धेष्वनुपनिवद्धेपु चात्ममनसो संयोग विशेपाद् धर्मविशेपाच्च यत् प्रातिभम यथार्थनिवेदनज्ञानमुत्पद्यते तदार्पमित्याचक्षते।"[1]

ग्रन्थबद्ध अथवा ग्रन्थाबद्ध अतीन्द्रिय भूत-भविष्य-वर्तमान वस्तुओ का आत्मा तथा मन के विशिष्ट सयोग से अथवा वस्तु के लक्ष्य विशेप से वेद रचने वाले ऋपियो के ज्ञान को प्रातिभ ज्ञान कहते हैं।

आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान इसी से होता है। यहां स्मरणीय है कि प्रातिभज्ञान अतीन्द्रिय विपयो का ज्ञान है। जहां इन्द्रियां नही जा सकती हैं वह प्रातिभ ज्ञान का क्षेत्र है। उपनिपदो मे भी कहा गया हैं कि ज्ञान इन्द्रिय और मन से अगोचर है। पर इस का यह अभिप्राय नही कि यह ज्ञान बुद्धि-गम्य नही है। यह बुद्धि का ही ज्ञान है। बुद्धि आत्मा की नियत वृत्ति है। यह ज्ञान आत्मा तथा मन के सयोग से ही उत्पन्न होता है। पर यह पुरुप की विकल्पना के आश्रित नही है। यह वस्तु के आश्रित है। वस्तु का यायातथ्य ज्ञान ही प्रातिभ ज्ञान है।

प्रातिभ ज्ञान प्रत्यक्ष की भाति इन्द्रियजन्य होता है। पर प्रत्यक्ष असर्वज्ञीय ज्ञान है और प्रातिभ ज्ञान सर्वज्ञीय ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुत

---

[1] प्रशस्तपादभाष्य, हिन्दी अनुवाद सहित (चौखम्भा) पृ० २०८-२०९।

क्रिया या किमर्थवत्ता का ज्ञान है। ब्रैडले के शब्दों में यह 'क्या' (The what) का ज्ञान है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक प्रत्यक्ष तो किमर्थवत्ता का ज्ञान है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न तो प्रमा है और न अप्रमा है। इसमें केवल अनुभूतिमात्र होती है। उसका वर्गीकरण नहीं होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में केवल इदन्ता (thisness) रहती है। इसमें केवल पदार्थों की इन्द्रियगोचर प्रत्यासत्ति रहती है। प्रातिभ ज्ञान में भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की तरह इदन्ता रहती है। कुछ न कुछ वस्तु प्रत्यासन्न रहती है। पर इसमें उस प्रत्यासन्न इदन्ता का यथार्थ ज्ञान भी होता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष की तरह प्रातिभज्ञान मे इदंता को किमर्थवत्ता या क्रिया नहीं समझा जाता वरन् इदंता को तत्त्व या तत्ता या तथता (thatness) समझा जाता है। प्रातिभ ज्ञान में क्रिया का वृथात्व प्रकट रहता है। एक मात्र तत्त्व ब्रह्म है। वही इदम् (this) के रूप मे इन्द्रियगोचर होता है। पर इस इदम् का सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा जगत् अर्थ लगाया जाता है। यह जगत् इदम् पर आरोपित अर्थ है, न कि उसका याथातथ्य ज्ञान। याथातथ्य ज्ञान वह है जिसमें कोई वस्तु (तत्) अपने निजस्वरूप (तत्+त्व या तत्ता) तत्त्व द्वारा ज्ञात होती है। इसीलिए याथातथ्य ज्ञान को तत्त्वज्ञान कहते हैं। यह तत्त्वज्ञान प्रातिभज्ञान से अथवा प्रतिभा से ही सम्भव है। इदम् मे जगत् की प्रतीति मिथ्या है। इदम् मे तो सदा ब्रह्म का ही रूप प्रकट होता है। शङ्कराचार्य का भी यही मत है—इदंतया ब्रह्म सदैव रूप्यते (विवेकचूडामणि श्लोक २३८)। आरोपित जगत् तो केवल किमर्थवत्ता है। आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ताधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण (वही श्लोक २३७)

प्रातिभज्ञान सत् का साक्षात्कार है। इसलिए इसको भारतीय दर्शन मे 'दर्शन' नाम से अभिधान किया जाता है। इसके अन्य पर्याय बुद्धि, मति, दृष्टि और ज्ञान हैं। ज्ञान शब्द प्राय अनुभव सामान्य के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। बोध की भी यही दशा है। इसलिए इस ज्ञान को प्रातिभज्ञान (Intuitive knowledge) कहना ही उचित है।

यह प्रातिभज्ञान अपरोक्ष है। वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र का कहना है कि यदि ज्ञान को परोक्ष मान लिया जाए तो फिर अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति असम्भव हो जायगी। परोक्षस्यापरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वानुपपत्ते। भ्रम अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् ज्ञान है। इसका निवारण किसी परोक्ष ज्ञान से

नही हो सकता है। कोई साक्षात् ज्ञान ही भ्रम को दूर कर सकता है। सच्चा ज्ञान इसीलिए अपरोक्ष या साक्षात् ज्ञान होता है। यह भ्रम, सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि अज्ञानो को दूर कर देता है।

डेकार्ट के शब्दो मे भी प्रातिभज्ञान अपरोक्ष है। हमे अपने अस्तित्व का प्रातिभज्ञान होता है। प्रातिभज्ञान का विषय हमारी आत्मा है।

प्रातिभज्ञान भ्रम—निवारक है। निषेध सदा विधिमूलक होता हैं। जब हम 'नेति नेति' कहते हैं तो यह किसी विधायक प्रातिभज्ञान के आधार पर ही कहते हैं। इसी प्रकार सशय-विर्पयय भी अपने निवारक की ओर सकेत करते हैं। प्रातिभज्ञान मे प्रमा-अप्रमा या सशय नही होता है। वह प्रमा मात्र है। जो सभी अप्रमाओ को दूर कर देती है वह अप्रमा कैसे हो सकती है? प्रकाश जैसे अन्धकार को दूर करता है वैसे ही ज्ञान अज्ञान को दूर करता है।

प्रातिभज्ञान के दो अग हैं, एक प्रतिषेधात्मक और दूसरा विधायक। प्रतिषेधात्मक स्वरूप विचार से उत्पन्न होता है। हम विचार करने पर जानते है कि 'हम' शरीर आदि से भिन्न हैं। "नाहम् देहोऽसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधै।" मै असद्रूप शरीर नही हूँ, इसी को ज्ञान कहते हैं। आत्मा शरीर-इन्द्रियमन प्राण विज्ञानादि से व्यतिरिक्त है। इस व्यतिरिक्तता का ज्ञान सच्चा ज्ञान है।

प्रातिभज्ञान का विधायक स्वरूप उसका प्रातिस्विक ज्ञान है। ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान सम्यग्ज्ञान श्रुतेर्मतम्।" श्रुतियो ने ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य के विशेष ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन माना है। "ब्रह्मैवाह सम शान्त सच्चिदानन्दलक्षण.।" इसी को सच्चा ज्ञान कहते हैं। मैं सच्चिदानन्द लक्षण वाला सम शान्त ब्रह्म ही हूँ—यही ज्ञान का विधायक स्वरूप है। जब कहा जाता है कि "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति" अथवा "आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्तिर्न सिद्ध्यति" तो इसी ज्ञान का अभिप्राय रहता है।

चरम सत्ता के ज्ञान और अस्तित्व मे अभेद है। आत्मा का अस्तित्व और ज्ञान दोनो एक ही वस्तु है। इसलिए ज्ञान और सत्ता की एकरूपता स्थापित की जाती है और सामान्यत आत्मा शब्द मे ही ज्ञान का भी अभिधान हो जाता है।

ज्ञान समग्र और सम है। यह नानात्व का ज्ञान नहीं है। यह केवल आत्म-ब्रह्म-तादात्म्य रूप एक सत्ता का ज्ञान है। इसके अन्तर्गत प्रत्य

और अनुमान दोनों आ जाते हैं। प्रत्यक्ष और ज्ञान या प्रातिभज्ञान का सम्बन्ध हम देख चुके हैं। प्रत्यक्ष वस्तुत अप्रमा है। जब वह प्रमा हो जाता है तो प्रातिभ हो जाता है। प्रातिभ ज्ञान मे भी प्रत्यक्ष होता है। अनुमान प्रत्यक्ष पर प्रतिष्ठित होता है। यदि इसका आधार-स्तम्भ अप्रमा है तो वह सावद्य तर्क कहा जाता है और त्याज्य है। पर जब वह प्रमा अर्थात् सम्यग्ज्ञान पर आधृत रहता है तो निरवद्य और ग्राह्य है। यही शङ्करोक्त प्रतिपादित वेदान्त का सिद्धान्त है।

वेदान्तियो मे प्रातिभज्ञान की उत्पत्ति-विषयक दो प्रधान मत हैं। पद्मपादाचार्य का कहना है—"तत्त्वमसि इत्यादि वैदिक वाक्यो से ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है।" सविदापरोक्ष्य (ज्ञान की अपरोक्षता) इन्द्रिय-विशेष से उत्पन्न नही होता है, किन्तु वह प्रमेय-विशेष निबन्धन है। ज्ञान श्रुतिगम्य है। श्रुति का वाक्यार्थ जान लेने पर हमे भी ज्ञान हो सकता है। परन्तु वाचस्पति मिश्र का मत है कि ज्ञान इन्द्रियज है। वह विषयविशेष से उत्पन्न नही होता। एक ही सूक्ष्म वस्तु को पटु तथा अपटु इन्द्रिय क्रमश. प्रत्यक्षऔर अप्रत्यक्ष करती है। इसी प्रकार कुछ पटु प्रातिभ ज्ञान विशेष रूप मे करते हैं और कुछ अपटु बिल्कुल नही करते। ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण मनन और निदिध्यासन से परिष्कृत मन है। मन के द्वारा ही ब्रह्म को देखना चाहिए। मनसैवानुद्रष्टव्य., यह श्रुति कहती है। शङ्कराचार्य का कहना है कि वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगति, नानुमानादिप्रमाणान्तर-निवृता, अर्थात् वेद-वाक्यार्थ के विचार मे जो तात्पर्य-निश्चय होता है, उससे ब्रह्मज्ञान निष्पन्न होता है, अनुमानादि प्रमाणान्तर से निश्चय नही होता। शङ्कराचार्य के ही मत को पद्मपादाचार्य मानते हैं। पर ज्ञान और अनुमान का जैसा सामञ्जस्य शङ्कर ने दिखलाया वैसा पद्मपादाचार्य ने नही। वाचस्पति मिश्र के इस मत मे सत्याश अधिक है कि "मनन ज्ञान के लिए आवश्यक है।" वेद-वाक्यो से अपनी सामर्थ्य का पता लगाने के पश्चात् हम मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्मबोध-रूप ज्ञान की प्राप्ति करते हैं। मनन ज्ञान से भिन्न नही है। तर्क शून्य म गन्धर्व-नगर नही है। इसकी ज्ञान मे प्रतिष्ठा है। इसकी विकृति या शुष्कता को दूर करने पर इसे ज्ञान-प्राप्ति का द्वार बनाया जा सकता है। शङ्कराचार्य कहते भी तो है—"तर्केणापि ज्ञातु शक्यते।" (माडूक्यकारिकाभाष्य) तर्क से भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

इस विवेचन का निष्कर्ष है कि ज्ञान तर्क या अनुमान और प्रत्यक्ष का अविरोधी है। प्रातिभज्ञान तर्क तथा प्रत्यक्ष की आधार-भित्ति है। कुछ लोग

समझते हैं कि प्रातिभज्ञान अवैज्ञानिक है। पर यह भ्रम है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने दिखला दिया है कि विज्ञान की आधार-शिला यही प्रातिभज्ञान है। ज्यामिति के मूलभूत सिद्धान्तों को हम प्रतिभा से ही स्वयंसिद्ध जानते हैं। डेकार्ट कहता है कि २+२=४ यह ज्ञान प्रातिभ है। ३+१=४ यह ज्ञान भी प्रातिभ है। इन दो प्रातिभज्ञानों से हमें २+२=३+१—यह तार्किक अथवा अनुमित ज्ञान प्राप्त होता है। न्यूटन का भौतिकशास्त्र प्रातिभ ज्ञान पर ही अवलम्बित है। प्रत्येक विज्ञान में कतिपय स्वयं सिद्ध प्रतिज्ञाएँ होती हैं जिनको केवल प्रतिभा से ही जाना जा सकता है। अतएव यह समझना चाहिए कि प्रातिभज्ञान अवैज्ञानिक नहीं है।

थोड़ा प्रातिभज्ञान प्रत्येक व्यक्ति करता है। कम से कम उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान तो होता ही है। जो इसका भी प्रत्याख्यान करते हैं वे झूठे ही प्रलाप करते हैं। तर्क से उन्हें उत्तर दिया जा सकता है कि तुम्हारा प्रत्याख्यान ही अस्तित्व है। इस प्रातिभज्ञान की पराकाष्ठा आत्मबोध अथवा ब्रह्मात्मैक्यबोध में होती है जो विरले महापुरुषों को ही लभ्य है।

नैयायिक जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में लिखा है कि योगियों का प्रातिभ-ज्ञान निर्मल और सर्वविषयक होता है और साधारण मनुष्यों को भी कभी-कभी कुछ अनागत विषयों का प्रातिभज्ञान होता है। फिर उनका कहना है कि यदि यह प्रातिभ ज्ञान अनर्थजन्य, सन्दिग्ध, बाधपूर्ण और दुष्टकारण से उत्पन्न नहीं है तो प्रमाण है और यदि वह बाधित हो जाता है तो उसे अप्रमाण कहना चाहिए[१]। परन्तु अन्य दार्शनिकों का कहना है कि जो प्रातिभज्ञान अप्रमाणित हो जाता है वह वास्तव में प्रतिभान है ही नहीं।

———

[१] न्यायमञ्जरी पृ० १०३।

५

ज्ञान में सापेक्षत्व

१ अन्तर्दृष्टि

सम्प्रदाय रहे या न रहे, निकाय हो या न हो, किन्तु अन्तर्दृष्टि दोनो अवस्थाओ मे रहती है। दर्शन और दृष्टि मे अन्तर है। दर्शन का रूप एक निकाय या संस्थान का रूप है और दृष्टि का रूप किसी विषय के अवलोकन का है। पुराने दार्शनिकों के मतों का विकास प्राय दृष्टि से आरभ होकर दर्शन तक हुआ है। किन्तु आधुनिक दार्शनिकों का मत उलटा है : वह दर्शन से आरभ होता है और दृष्टि मे पूर्णतया विकसित हो जाता है। यह कहने की तनिक भी आवश्यकता नही है कि आज दर्शन की नही किन्तु दृष्टि की आवश्यकता है। विद्या-अभ्यास का लक्ष्य समग्र दृष्टि का प्राप्त करना है—वह दृष्टि जिसमे कोई पहलू छूट न जाय। यह दृष्टि अन्तर्दृष्टि है।

अन्तर्दृष्टि बाहरी दृष्टि से भिन्न है। वह दूरदृष्टि से भिन्न है। वास्तव मे वह इन्द्रिय ज्ञान की शक्ति नही है। कुछ लोग इसे प्रज्ञाचक्षु कहते हैं और इसका अर्थ बौद्धिक दृष्टिकोण करते है। किन्तु अन्तर्दृष्टि प्रज्ञाचक्षु या बुद्धि नही है।

फिर भी समस्त इन्द्रिय ज्ञान तथा बुद्धि के आधार के रूप मे अन्तर्दृष्टि है। वह उनसे भिन्न होते हुए भी उनका आधार है। वह साक्षात् आत्मा की अनुभूति है।

२ प्रातिभ ज्ञान

अन्तर्दृष्टि से प्राप्त ज्ञान प्रातिभ ज्ञान है। यह चाक्षुष ज्ञान नही है। यह बौद्धिक ज्ञान भी नही है। बौद्धिक ज्ञान परोक्ष है, इसमे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी रहती है। किन्तु अन्तर्दृष्टि मे यह त्रिपुटी नहीं रहती है। यह अप-

रोक्ष ज्ञान है। इसको अपरोक्ष अनुभव, सद्य अनुभव, साक्षात् अनुभव या भावना भी कहा जाता है। यही साक्षात्त्व है।

अपरोक्ष अनुभव प्रातिभ ज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान पूर्णत अपरोक्ष है इस ज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय एक हैं, यहा तत्व को जानना तत्व होना है। आत्मा का ज्ञान प्रातिभ बोध का एक उदाहरण है। किन्तु प्रातिभ ज्ञान हमारी आत्मा के सकीर्ण क्षेत्र तक ही नही सीमित है। जैसे हमारी आत्मा अधिक विकसित होती हैं, वैसे हमारा प्रातिभ ज्ञान भी होता है, जितना अधिक तत्व को यह आत्मसात् कर सकती है और अपने से अभिन्न कर सकती है, उतना ही अधिक यह तत्व का प्रातिभ ज्ञान प्राप्त करती है। जीवन की गहन वस्तुए केवल प्रातिभ बोध के द्वारा जानी जाती हैं। हम उनके सत्य की प्रत्यभिज्ञा करते है, न कि उनके बारे मे तर्कणा करते हैं।

फिर प्रातिभ ज्ञान सच्चा ज्ञान है। अपरोक्षता उसका लक्षण है, उसके विषयो का व्यक्तित्व है। उसके अन्दर (क) प्रत्यक्ष, (ख) कल्पना तथा (ग) भावना का समावेश है। सिवा स्वय केवल चेतना के, उसका कोई सामान्य रूप नही है। वह शुद्ध सवेदना के समान निष्क्रिय और निरर्थक नहीं है। प्रातिभ ज्ञान अनिवार्यत प्रकाशक या व्यजक है। इसका तात्पर्य यह नही है कि सभी प्रतिभान ऊपर से शब्दो मे या कलाकृतियो मे अभिव्यक्त हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिभान स्वय एक अभिव्यक्ति है। प्रतिभान स्वय सृजनात्मक कला है, कलाकार तो साधारणतया केवल वह मानव है जिसके प्रतिभान असाधारण रूप से निर्मल और स्पष्ट हैं और जो उन्हें भौतिक रूप देना जानता है।

प्रातिभ ज्ञान आत्मा की कोई शक्ति नही है, वह स्वय साक्षात् अखण्ड आत्मा है। इसके अनिवार्य लक्षण अपरोक्षता, मूर्तता और अखण्डता हैं। यही स्वप्रकाश या स्वयप्रकाश है। यही वह ज्ञान है जो स्वयसिद्ध है।

३ अपरोक्षता

अपरोक्षानुभूति कोई विशिष्ट अनुभूति नही है जो समाधि की ही अवस्था मे जानी जा सके। यह समस्त ज्ञान का अनिवार्य अनुषगी है। यह द्विविध है।

(१) एक वह अपरोक्षता है जिससे हमारा अनुभव आरम्भ होता है जैसे 'यह मेज है'—यही 'यह' का ज्ञान। फिर (२) एक वह अपरोक्षता है जिसमे हमारे ज्ञान का पूर्ण विकास होता है, यह परमतत्व का ज्ञान है जो अभेद-ज्ञान

है। इन दोनो अपरोक्षताओ के मध्य समस्त परोक्ष ज्ञान है जिसका लक्षण सम्बन्धयुक्त होना है। पहली अपरोक्षता वह अनुभूति है जिसमे कोई भेद या सम्बन्ध उत्पन्न ही नही हुआ है और दूसरी अपरोक्षता वह अनुभूति है जिसमे सभी भेद या सम्बन्ध उत्पन्न होने के बाद एकीकृत हो जाते हैं। सबन्ध-ज्ञान इस प्रकार उत्पन्न होता है और शान्त होता है। अपरोक्ष अनुभव ज्यो का त्यो बना रहता है।

परोक्ष-ज्ञान मे भी अपरोक्ष अनुभव रहता है। इस अपरोक्षता का मुख्य लक्षण ज्ञान और सत् का एकमेक होना है। यही अपरोक्षता परोक्ष-ज्ञान को गतिशील बनाती है, उसको सार्थक करती है या वर्गसा के शब्दो मे कहे तो उसको सप्राण बनाती है। यह कहना सत्य नहीं है कि जब आत्मा और अनात्मा के भेद तथा सबन्ध ज्ञान मे उत्पन्न हो जाते हैं तो अपरोक्ष अनुभव का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। तब भी एक अपरोक्ष पृष्ठभूमि रहती है जिस पर सभी अनुभव निर्भर होते हैं। मानसिक विकास की किसी भी अवस्था मे मात्र विषयी और विषय का सह-सम्बन्ध यथार्थत: उपलब्ध नही होता है। जो उपलब्ध होता है वह इस सबन्ध से अधिक है। वह एक अनुभूत समग्रता है और इस सर्वग्राही एकता पर समस्त सबन्ध आधारित हैं। फिर अपरोक्ष अनुभव कोई अवस्था नही है जो किसी समय हो सकती है और किसी समय समाप्त हो जाती है। हर सम्बन्ध और हर भेद सदा एक अपरोक्ष पृष्ठभूमि पर आधारित हैं जिससे हम अवगत हैं। अपरोक्ष अनुभव के अन्दर ये सभी विकास शामिल हैं जो एक अर्थ मे उसका अतिक्रमण करते हैं। यही वास्तव मे उन विकासो का निर्णायक है।

यह मत उपनिषदो के उन दार्शनिकों से मिलता-जुलता है जिन्होंने "एतद् वै तत्" (यह वह है) का प्रतिपादन किया। [illegible] ने इसी को "[illegible]" कहा है। इसका अभिप्राय है कि हमें "यह, वह" (इदम्, तत्) से भिन्न सत्ता का अपरोक्ष साक्षात्कार होता है उसी को [illegible] अर्थ मे जानना [illegible] है, पहचानना या जानना है। "यह" का अर्थ आत्मा ही [illegible] है। इस अर्थ को जानने मे परोक्ष ज्ञान की सभी कोटियों का उपयोग है। किन्तु इन कोटियों का महत्व [illegible] अपरोक्षानुभूति है। इसीलिए अपरोक्षानु-भूति सभी शास्त्रों का प्रयोजन है।

यह (इदम्) की अनुभूति सभी अनुभवों का [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है? इस प्रश्न का [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] के [illegible] की [illegible] 'यह' के [illegible] सभी [illegible] को [illegible]

ही सर्वोच्च ज्ञान है । यह ज्ञान भी अपरोक्ष होता है क्योंकि इसमे तद्-रूप विषय और तद्-ज्ञाता या तज्ज्ञता एकमेक रहते हैं ।

४ ज्ञान और सत्ता की एकता

ज्ञान और सत्ता की एकता को कई ढगो से देखा जाता है । प्रत्ययवादी मानते हैं कि आत्मा की सत्ता और आत्मा का ज्ञान एकमेक है । वे आत्मा के बारे मे ज्ञान और सत्ता को एक मानते हैं । इसके विपरीत अनुभववादी सवेदना से प्राप्त प्रदत्त के बारे मे ज्ञान और सत्ता को एक मानते हैं । ईश्वरवादी इन दोनो मतो को नही मानते हैं । उनके विचार से ज्ञान और सत्ता की एकता केवल ईश्वर मे है ।

यहा यह जानना जरूरी है कि सत्ता और ज्ञान मे कोई परोक्षता का सवन्ध नही हो सकता है । यदि सत्ता और ज्ञान की एकता को न माना जाय तो फिर सत्ता मे ज्ञान का सवन्ध और ज्ञान से सत्ता का सवन्ध सिद्ध नही किया जा सकता है । काण्ट ने ईश्वर के अस्तित्व के बारे मे तत्वदाशनिक युक्ति का खण्डन करते हुए ठीक ही कहा है कि ईश्वर-ज्ञान से ईश्वर नामक वस्तु की सिद्धि नही हो सकती है । फिर बर्कले ने लाक के वस्तुवाद का खण्डन करते हुए ठीक ही कहा है कि किसी भी प्रत्यय से उसके उत्तेजक सत को सिद्ध नही किया जा सकता है । इसके विपरीत शकराचार्य ने भौतिकवाद की आलोचना करते हुए ठीक ही कहा है कि किसी वस्तु मे ज्ञान की उत्पत्ति नही हो सकती है— नहि भूतभौतिकेन सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियरन् । इसी तथ्य को ग्रीन और ब्रैडले ने कहा है कि परम तत्व या अपरोक्ष अनुभव की उत्पत्ति किसी वस्तु मे नही हो सकती है क्योंकि हर वस्तु अपरोक्ष अनुभव या परम तत्व के अन्दर ही है । सत्ता और ज्ञान की अपरोक्ष एकता अनुभवसिद्ध है । यदि इसका निराकरण किया जाय तो जो भी ज्ञान होगा वह थोथा या असत् होगा । हेगल के शब्दो मे वह अमूर्त होगा । सच्चा ज्ञान सत्ता और ज्ञान की अभिन्नता है या उस अभिन्नता का विकास है । इस प्रकार आकारिक तर्कशास्त्र (Formal Logic) भी इसी अपरोक्षता या अभेद का विकास है ।

अपरोक्षता विचार या तर्क से बाहर नही है अपितु उसका अनिवार्य सहचर है । कोई ज्ञान विशुद्ध परोक्ष या विशुद्ध अपरोक्ष नही है । हेगल का पूरा तर्कशास्त्र इन दो क्षणो या पहलुओ के शाश्वत सम्पर्क का उदाहरण है । तर्कशास्त्र के पूरे दौरान मे हम पाते हैं कि परोक्षता अपरोक्षता के क्षण मे अपने ही कार्यवशात विलीन हो जाती है । सत्ता की अमूर्त अपरोक्षता से लेकर निरपेक्ष

स्पष्ट है कि शाकर वेदान्त अपरोक्षता का एक ही प्रकार मानता है। किन्तु अन्य दर्शन अपरोक्षता के विभिन्न प्रकार मानते हैं। हेगल के तर्कशास्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रत्येक वर्ग का व्यापार अपरोक्षता के समीप जाना है। अद्वैत वेदान्त जहा अतत् की व्यावृत्ति के द्वारा प्रत्येक वृत्ति म तत् की उपलब्धि करता है वहा हेगल के दर्शन मे प्रत्येक वृत्ति में तत् की अपरोक्षता का कुछ विकसित ज्ञान है। हेगल नही कहते कि तत् आत्मा है जसे शाकर वेदान्त स्पष्ट करता है। तत् आत्मा हो या न हो किन्तु उसकी अनुभूति अपरोक्ष है। चिन्तन-मनन और निदिध्यासन से यह अनुभूति और दृढ होती है। इस प्रकार शाकर अद्वैतवाद से कुछ समानता होते हुए भी हेगल का अद्वैतवाद मूलत उससे भिन्न है। वह रामानुज के अद्वैतवाद के अपेक्षाकृत अधिक निकट है।

किन्तु चूँकि अपरोक्ष अनुभव कोई परिनिष्ठित वस्तु या अवस्था नही है इसलिए हेगल का कहना है कि परम तत्व प्रक्रिया है, न कि इस प्रक्रिया का फल। वे दार्शनिक पद्धति या प्रणाली अर्थात् सोचने के ढग पर अधिक बल देते हैं। उनका कहना था कि यात्रा की समाप्ति से अधिक आनन्द यात्रा करने में है किसी विचार मे अधिक महत्व सोचने के तरीके का है। अनुभव करना अनुभूत वस्तु से अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार अपरोक्षानुभूति को हेगल अनुभव की शाश्वत क्रिया मे ही उपलब्ध करने को कहते हैं। ऐसा ही विचार प्रोफेसर ह्वाइटहेड का भी है।

६

तार्किक भाववाद की समीक्षा

१ ऐतिहासिक दृष्टिकोण

तार्किक भाववाद आधुनिक दर्शन की सबसे बडी और क्रान्तिपूर्ण विचार-धारा है जिसका आरम्भ १९२१ ई० से माना जा सकता है। इस वर्ष लुड-विग विटगेन्स्टाइन (१८८९—१९५१) ने जर्मन भाषा मे लाजिश-फिलासोफिशे एभण्डलुग नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। दूसरे वर्ष १९२२ ई० मे इस पुस्तक का दूसरा सस्करण जर्मन-अग्रेजी मे प्रकाशित हुआ जिसका नाम ट्रैक्टेटस लाजिको-फिलासिकस था। इसका नामकरण अग्रेज दार्शनिक जी० ई० मूर ने किया था। अंग्रेजी में जर्मन से अनुवाद सी० के० ओगडेन ने किया था और भूमिका बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखी थी। १९६१ ई० मे इसका एक और सस्करण छपा जिसमे जर्मन से अग्रेजी का अनुवाद डी० एफ० पियर्स और बी० एफ० मैकगाइनेस ने किया है। यही ग्रन्थ तार्किक भाववाद का बाइविल है। विटगेन्स्टाइन तार्किक भाववाद का मूल प्रवर्तक हैं।

१९२९ ई० मे मारित्ज श्लिक (१८८२-१९३६) ने वियना मे वियना-मण्डल की स्थापना की जिसने तार्किक भाववाद का विशेष प्रचार किया। किन्तु १९३६ ई० मे श्लिक की हत्या कर दी गई और तब से वियना-मण्डल समाप्त हो गया। किन्तु इसी वर्ष इगलैण्ड मे ए० जे० एयर ने लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लाजिक नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसने तार्किक भाववाद का विशेष प्रचार अंग्रेजी-भाषी क्षेत्रो मे किया। उससे तार्किक भाववाद का प्रचार वियनामण्डल के समाप्त हो जाने के बाद भी होता रहा। किन्तु १९३३ ई० से विटगेनस्टाइन ने स्वय तार्किक भाववाद की आलोचना आरम्भ कर दी थी और १९३३-३४ ई० मे उसने ब्लू बुक तथा १९३४-३५ मे उसने ब्राउन बुक तैयार की जिसका प्रकाशन १९५८ मे हुआ। १९५३ मे उसका श्रेष्ठ ग्रन्थ फिलासिकल इनवेस्टीगेशन्स प्रकाशित हुआ जिसमे तार्किक भाववाद से

सामान्य या विभु वस्तु के निराकरण के साथ ही साथ तार्किक भाववाद ने दर्शनशास्त्र का भी निराकरण किया, क्योकि दर्शन-शास्त्र सामान्यो या विभु वस्तुओ का ही निरूपण करता है जिसमे आत्मा, ईश्वर और प्रकृति, ये तीन सामान्य प्रमुख है। ह्यूम जैसे विचारको ने इस कार्य को तार्किक भाववाद के पहले भी किया था। किन्तु उन्होने इसके लिए यह तर्क दिया था कि दर्शन शास्त्र जिन विषयो का निरूपण करता है वे अगम-अगोचर हैं और इसलिए ज्ञान के विषय नही हैं। तार्किक भाववाद ने दर्शन-शास्त्र का निराकरण इस आधार पर किया कि समस्त दार्शनिक वाक्य वास्तव मे वाक्य ही नही हैं। प्रत्येक वाक्य या तो मात्र पुनर्कथन हैं और या प्रत्यक्षमूलक कथन। पुनर्कथन एक सयुक्त वाक्य है जिसकी सत्यता उसके अधिकाश उपवाक्यो को असत्य मान लेने पर भी ठीक उतरती है। वह एक तार्किक सरचना हैं और उसकी सत्यता मात्र सरचनात्मक है, सूचनात्मक नही। वह ज्ञान वृद्धि नही करता। अतएव उसका तात्विक महत्व नही है। तात्विक महत्व केवल प्रत्यक्षमूलक कथन का है। किन्तु दार्शनिक वाक्य न तो पुनर्कथन हैं और न तो प्रत्यक्षमूलक कथन। वे तार्किक वाक्य-रचना के समस्त नियमो का उल्लघन करते हैं। उनके प्रामाण्य या अप्रामाण्य के लिए हमारे अनुभव मे कोई प्रत्यक्षमूलक कथन नही है और न हमारे तर्कशास्त्र मे कोई तर्क का नियम है। अत वे न तो गलत हो सकते हैं और न सत्य। वे मात्र अर्थ-शून्य हैं और इसीलिए शुद्ध बकवास हैं। अत दर्शनशास्त्र को कुछ कहने का अधिकार ही नही है क्योकि वह कथन के नियमो का पालन नही करता है। इस रूप मे और इससे बढकर दर्शन-शास्त्र का खडन पहले कभी नही हुआ था। जैसे पूर्ववर्ती दार्शनिको ने प्राकृतजनो का मुँह बद कर दिया था वैसे ही तार्किक भाववादियो ने दार्शनिको का भी मुँह बद कर दिया।

किन्तु तार्किक भाववादियो ने दर्शनशास्त्र के स्थान पर कथन-शास्त्र को स्थापित किया। इसने कथन की एक कसौटी निकाली जिसे अर्थ के प्रामाणीकरण का सिद्धान्त कहा जाता है। इसका उग्र रूप यह है कि जबतक कोई कथन प्रत्यक्षमूलक कथन न हो या जब तक किसी कथन को प्रत्यक्षमूलक कथनो मे बदल न दिया जाय तब तक वह अनुपपन्न या असम्भव है। किन्तु प्रमाणीकरण के इस रूप का प्रयोग व्यवहार मे कोई नही करता। किसी को अपने किसी कथन का पूर्ण अन्तर्भाव कुछ प्रत्यक्षमूलक कथनो मे व्यवहारत करने की आवश्यकता नही पडती। उसे केवल यह देखना है कि उसके कथन की पुष्टि प्रत्यक्षमूलक कथनो से हो सकती है या नही। यदि हाँ, तो उसका

कथन सत्य है, यदि नही, तो उसका कथन गलत । इस रूप मे उग्रप्रमाणीकरण का सिद्धान्त कामचलाऊ प्रमाणीकरण के सिद्धान्त मे बदल गया ।

किन्तु प्रश्न है कि प्रत्यक्षमूलक कथन क्या हैं ? वे क्या कथन करते हैं ? क्या कथन वर्णन हैं ? यदि कथन वर्णन नही है तो उसका वर्णन से क्या सम्बध है ? इन सभी प्रश्नो की छान-बीन की गई और कथनशास्त्र की ही भाति वर्णनशास्त्र की स्थापना हुई । यह माना गया कि सभी कथन घटना का वर्णन नही करते । जो कथन घटना का वर्णन करते है वे मूल कथन या मूल वाक्य हैं । फिर जो कथन वर्णन नही हैं वे इन्ही मूलकथनो या वाक्यो के सघात हैं। अब प्रश्न है कि मूल वाक्यो और घटनाओ का क्या सम्बध है ? अथवा भाषा तथा घटना-चक्र का क्या सम्बंध है ? सर्व प्रथम यह कहा गया कि भाषा या कम से कम मूल वाक्यो की भाषा घटना-चक्र का चित्र है । मूल वाक्य घटनाओ का चित्रण करते हैं । बाद मे कुछ लोगो ने कहा कि मूल वाक्य घटनाओ के चित्र नही किन्तु मानचित्र हैं । परन्तु दोनो सिद्धान्तो मे कोई विशेष अन्तर नही जान पडता । दोनो सवाद-सिद्धान्त हैं । दोनों मानते हैं कि यद्यपि हमारा सम्पर्क मात्र वाक्यो से है तथापि हम इनकी तुलना घटना-चक्र से करते हैं । किन्तु क्या यह सम्भव है ? यदि हमारा सम्पर्क केवल प्रति-बिम्बो से ही है तो हम बिम्ब से इनकी तुलना नही कर सकते, क्योकि बिम्ब से हमारा सम्पर्क नही है । इस प्रकार सगति का अर्थ घटना-चक्र मे मूल वाक्यो का सम्बन्ध नही है किन्तु अन्य वाक्यो से ही मूल वाक्यो का सम्बन्ध है । यहाँ सुसगति का सिद्धान्त तार्किक भाववाद मे प्रतिष्ठित हुआ । इसने घटना-चक्र को भी, आणविक तथ्यों को भी, अनावश्यक सिद्ध किया । फलत तार्किक अणुवाद अनावश्यक हो गया । वह तार्किक भाववाद से बहिष्कृत हो गया और उसके स्थान पर भाषा की सुसगति या एकवाक्यता का सिद्धान्त आ गया ।

पुनश्च, इससे यह भी सिद्ध हुआ कि वास्तव मे कोई कथन मूलवाक्य नही है, क्योकि प्रत्येक कथन कुछ अन्य कथनो का सघात है। कथनो के सघात की सत्यता का विश्लेषण तर्क द्वारा किया गया । इस प्रकार सत्यताफलन (ट्रुथ फन्कशन) का सिद्धान्त भाषा का बुनियादी सिद्धान्त हो गया । सत्यता–फलन के मूल कारक समुच्चय (Conjunction), निषेध (negation), प्रतिपत्ति (Implication), विकल्प (Disjunction) आदि माने गए । इनमे भी कुछ लोगो ने केवल समुच्चय और निषेध को मूल सत्यता–फलन कारक माना तो कुछ लोगो ने विकल्प और निषेध को तथा कुछ लोगो ने केवल प्रतिपत्ति को । इन मान्यताओ

के अनुसार विभिन्न तर्क-प्रणालिओ की रचना की गई जिनमे तर्कत. प्रत्येक विज्ञान के सिद्धान्तो का समन्वय किया जा सकता है। किन्तु क्या एकवाक्यता का सिद्धान्त निर्दोष है ? क्या समस्त वाक्यो की एकवाक्यता सम्भव है ? या विभिन्न वाक्य-समूहों की अपनी-अपनी एकवाक्यता हैं ? कुछ भी हो, किन्तु यदि किसी वाक्य-समूह मे कोई प्रत्यक्षमूलक कथन नही है जो किसी तथ्य का सकेत करता है तो उसकी एकवाक्यता वितथ है। फिर वितथ वाक्यो की भी एकवाक्यता सम्भव है। अतएव अवितथ एकवाक्यता के लिए प्रत्यक्षमूलक कथन की आवश्यकता बनी हुई है। इसीलिए एकवाक्यता के सिद्धान्त को छोड कर तार्किक भाववादी पुन प्रत्यक्षमूलक कथन और घटना के सम्वाद की ओर झुके हैं। किन्तु अभी इसकी पुरानी कठिनाइयो पर विजय नही मिली है।

१६३६ मे जब श्लिक के किसी विद्यार्थी ने उसको वियना विश्वविद्यालय के अन्दर ही पिस्तौल से मार डाला तो व्यगभरी आलोचना की गई कि यह तार्किक भाववादियो के प्रारब्ध मे ही है कि उनके शिष्य उनकी हत्या करें। यह आलोचना तार्किक भाववाद के लिए पूर्णतया सत्य सिद्ध हुई। इसके अनुयायियोने ही इसकी कटु आलोचना की। वाइज़मन ने कहा कि यह कहना ही बकवास है कि दर्शनशास्त्र बकवास है। फिर उन्होने यह माना कि प्रमाणीकरण का सिद्धान्त स्वय न तो पुनरुक्ति है और न प्रत्यक्षमूलक कथन, यह एक दार्शनिक वाक्य है। यदि सभी दार्शनिक वाक्य मात्र बकवास हैं तो यह भी बकवास है, और यदि यह सार्थक है तो अन्य दार्शनिक वाक्य भी सार्थक हो सकते हैं। इससे भी आगे बढकर उन्होने कहा कि दर्शनशास्त्र मूलत वर्णन या कथन का शास्त्र नहीं अपितु दर्शन या देखने की प्रक्रिया का शास्त्र है। इससे तार्किक भाववाद का यह नारा कि भाषा का विश्लेषण ही एक मात्र दार्शनिक क्रिया है, यदि बन्द नहीं तो मन्द अवश्य पड गया है। वर्णन और कथन का विवेचन करके अब तार्किक भाववाद "दर्शन" के क्षेत्र मे प्रवेश कर रहा है जो सचमुच अनेक सम्भावनाओं से भरपूर है।

निश्चय ही, तार्किक भाववाद मे अन्तर्विरोध थे जिसके कारण उसका पतन हुआ। उसने तत्वदर्शन या तत्त्वमीमासा का जो खडन किया, उसने उसके ही बाण से उस पर प्रहार कर दिया। तार्किक भाववाद की एक अपनी तत्व-मीमासा थी जिसके सहारे वह अन्य तत्त्वमीमासाओ का खडन करता था। उसकी तत्त्वमीमासा का विश्लेषण रसल ने तार्किक अणुवाद नामक निबन्ध मे किया है। किन्तु इस तत्त्वमीमासा को अधिकाश तार्किक भाववादी नहीं मानते। उन्होने भाववादी दृष्टिकोण को और आगे विकसित करते हुए एक आदर्श

भाषा के निर्माण का प्रयास किया है जिसके द्वारा तत्वमीमांसा-सबन्धी प्रश्नों को व्यर्थ सिद्ध किया जा सके ।

गुस्टाव वर्गमन इस कोटि के एक प्रमुख दार्शनिक हैं । उन्होंने नव-भाववाद (Neo positivism) को जन्म दिया है । उन्होंने स्वय तार्किक भाववाद की तत्वमीमासा को स्वीकार किया है और इस शीर्षक मे एक पुस्तक भी लिखी है । इस प्रकार जब तार्किक भाववाद एक तत्वमीमासा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया तो उसका विरोध और विद्रोह बन्द हो गया ।

किन्तु तार्किक भाववाद की सबसे बडी देन भाषा-विश्लेषण है जिसने आगे चलकर स्वय एक दार्शनिक विचार-पद्धति का रूप ले लिया ।

२ आलोचनात्मक दृष्टिकोण

तार्किक भाववाद का पुनर्मूल्याकन अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने किये है । उनका सबसे प्रचलित पुनर्मूल्याकन दर्शन में क्रान्ति (The Revolution in Philosophy) नाम से सन् १९५६ मे मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड लदन ने एक पुस्तक के रूप मे प्रकाशित किया है । इस पुस्तक मे प्रोफेसर गिल्बर्ट राइल ने भूमिका लिखी है । फिर आर० ए० वोल्हाइम ने ब्रैडले के दर्शन के ऊपर एक निबध लिखा है और डब्लू० सी० नील ने गोटलोव फ्रेग और गणितमूलक तर्कशास्त्र पर एक लेख लिखा है । आगे डी० एफ० पियर्स ने रसल और विटगेन्स्टाइन के तार्किक अणुवाद पर एक निबध तथा जी० ए० पाल ने जी० ई० मूर के विश्लेपण-दर्शन पर एक निबन्ध और विटगेन्स्टाइन पर दूसरा निबन्ध लिखा है । फिर ए० जी० एयर ने वियना-मण्डल के मौलिक दर्शन पर निबन्ध लिखा है जिसके मुख्य सदस्य श्लिक, वाइजमन, कारनप, न्यूरथ, फाइग्ल और क्राफ्टा थे । अन्त मे पी० एफ० स्ट्रासन तथा जी० जे० वारनाक के क्रमश. रचना और विश्लेपण तथा विश्लेपण और कल्पना नामक दो निबन्ध हैं ।

ये निबन्ध पहले ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन के तृतीय कार्यक्रम के अन्दर प्रसारित रेडियो-वार्ता के रूप मे थे । इन वार्ताओ या निबन्धो का प्रयोजन दर्शन के क्षेत्र मे हुई नवीनतम क्रान्ति का मूल्याकन करना है । इस क्रान्ति मे शामिल होने वाले प्रथम दार्शनिक फ्रासिस हर्बर्ट ब्रैडले हैं जिनका देहान्त १९२४ मे हुआ । पुनश्च इस क्रान्ति के अन्य अग्रकर्ता दार्शनिक फ्रेग, विटगेन्स्टाइन, मूर और रसल हैं जिनके देहान्त क्रमश १९२५, १९५१, १९५८ तथा १९६९ मे हुए । इससे स्पष्ट है कि मोटे तौर से सन् १९२१ से

लेकर सन् १९५० तक दर्शन के क्षेत्र मे जो नयी क्रान्ति हुई उसकी चर्चा ही इन निवन्धो मे की गयी है। इनके शीर्षको से भी स्पष्ट है कि इस क्रान्ति के मूल प्रवर्तक ब्रैडले, फ्रेग, मूर, रसल, विटगेन्स्टाइन तथा वियना, मण्डल के दार्शनिक गण हैं। फिर इन निवन्धो के लेखक उस क्रान्ति के समर्थक हैं और वे उस मूल क्रान्ति के दार्शनिको के भाष्यकार और वार्तिककार प्रतीत होते हैं। इस क्रान्ति से सम्बंधित सभी दार्शनिक आस्ट्रिया, जर्मनी तथा इग्लैंड के दार्शनिक हैं। स्पष्ट है कि इन देशो की दार्शनिक परम्पराओ का भी प्रभाव दर्शन की नयी क्रान्ति पर पडा है। ये परम्पराएँ दो हैं—एक, जर्मनी और अस्ट्रिया का वृद्धिवाद है जिसका उद्भव लाइवनीज से माना जा सकता है और दूसरी परम्परा है इग्लैंड का अनुभववाद जिसका सवसे सुसगत प्रथम प्रवर्तक डेविड ह्यूम है। दर्शन की नयी क्रान्ति पर वद्धिवाद और अनुभववाद दोनो का प्रभाव पडने से यह तार्किक भाववाद या तार्किक अनुभववाद हो जाती है।

इस नयी क्रान्ति के देश, काल, व्यक्ति और परम्परा का निर्धारण हो जाने के वाद अव प्रश्न उठता है कि यह क्रान्ति क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है—विश्लेषण। उपर्युक्त पुस्तक के सभी लेख तर्कशास्त्र पर हैं। उनकी दार्शनिक प्रणाली है विश्लेषण करना। उनका प्रयोजन है 'अर्थ' का अर्थ करना। किसी पद, वाक्य और प्रमाण के क्या दार्शनिक अर्थ होते हैं? इसकी न्यायसगत मीमासा करना ही वर्तमान दर्शन का प्रमुख प्रयोजन है। इसके आगे या अतिरिक्त वह कुछ नहीं करना चाहता।

यद्यपि इन सभी लेखको मे पर्याप्त मतभेद है, तथापि उन सभी को दर्शन की उपरोक्त प्रणाली और दर्शन का उपरोक्त प्रयोजन मान्य है। सभी ने यथाशक्ति विश्लेषण की प्रक्रिया और अर्थ के अर्थ को निश्चित करने पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनकी सबसे वडी विशेषता यह है कि उन्होंने प्राचीन दार्शनिकों ने, साक्राटीज और प्लेटो से लेकर आज तक के दार्शनिको की सभी विचार-सरणियो की एकवाक्यता दिखलाने की कोशिश की है और इसमे वे काफी सफल हुए हैं, विशेषत राइल, स्ट्रासन, वार्नक और वोल्हाइम। विज्ञानवादी ब्रैडले, सर्वास्तिवादी मूर, अणुवादी रसल और विटगेन्स्टाइन और तार्किक प्रत्यक्षवादी वियना-मडल के दार्शनिको की विचार-प्रणालियो मे लेखको को अद्भुत एकवाक्यता मिली है। उन्होंने सफलतापूर्वक दिखलाया है कि ब्रैडले से लेकर विटगेन्स्टाइन तक, फिर विटगेन्स्टाइन से लेकर एयर, राइल और वाइज्मन तक, विश्लेषण की प्रणाली का क्रमिक विकास हो रहा है। वार्नक

का तो यहां तक कहना है कि वर्तमान स्थिति बतलाती है कि विश्लेषण का अधिकाधिक विकास भविष्य में भी होगा और ऐसा मानकर चलना बुद्धिमानी है।[1]

वोल्हाइम ने दिखलाया कि इग्लैण्ड मे सबसे पहले ब्रैडले ने ही तर्क-शास्त्र और दर्शन को मनोविज्ञान की प्रवृत्तियों से अलग करके एक स्वतन्त्र शिला पर खडा किया (पृ० १४)। नील का कहना है कि लगभग उसी समय फ्रेग ने भी जर्मनी मे तर्कशास्त्र को मनोविज्ञान तथा भाषा-विज्ञान के प्रभावों से मुक्त करके स्वतन्त्र रूप से स्थापित किया (पृ० ३१)। राइल ने ब्रैडले और फ्रेग की तुलना करते हुए कहा कि (१) दोनो ने मनोविज्ञान के विरुद्ध विद्रोह किया और तर्कशास्त्र तथा दर्शन की स्वतन्त्र स्थापना की, (२) दोनों ने सिद्ध किया कि वाक्य-ज्ञान पद-ज्ञान से पहले होता है, वाक्य पद रूपी टुकडो से नहीं बनता है और वाक्य ऐसी अविभाज्य इकाई है जिसमे विवेक-कृत भेद हैं, (३) दोनो ने माना कि प्रकथन को केवल उद्देश्य-विधेय के ढाचे मे जकडा नही जा सकता है और अनुमान सदा न्यायवाक्यात्मक (सिलो जिस्टिक) ही नही होता है, (४) दोनो ने समझा कि विचार स्वत सत्य या असत्य होता है, परत नही, और (५) दोनों ने अर्थ के स्वरूप-निर्धारण पर बल दिया[2]। बीसवी शती का दर्शन 'अर्थ' के 'प्रत्ययन' का इतिहास है। तर्कशास्त्र और दर्शन पदेन अर्थ का निरूपण करने मे प्रवृत्त होते हैं। दार्शनिक अर्थ एक ओर मनोवैज्ञानिक अर्थ 'सवेदनाओ', भावनाओ और कल्पनाओ से भिन्न है तो दूसरी ओर वह शब्दकोश, व्याकरण, निरुक्त और भाषा-विज्ञान द्वारा निश्चित किये गये अर्थों से भी भिन्न है।

वोल्हाइम ने कहा कि ब्रैडले की महान् क्रान्ति यह है कि दार्शनिक का खोजा हुआ प्रत्यय अनिवार्यत सामान्य होता है, वह एक विशेष मानसिक घटना नहीं है। विश्लेषण करने का मतलब है सभी निर्णयो का उनके दार्शनिक सामान्य अर्थ मे विग्रह करना। यह बडी खतरनाक धारणा है कि विश्लेषण परिवर्तन नही करता है। विश्लेषण वस्तु को काटना-छाटना है, टुकडे-टुकडे कर डालना है। विश्लेषण वस्तु का अन्यथाभाव कर देना है, उसकी हिंसा करता है। नागार्जुन की तरह ब्रैडले ने भी माना कि यथा यथा विचार्यन्ते तथा तथा विशीर्यन्ते अर्थात् किसी निर्णय पर जैसे-जैसे विचार किया

---

[1] दी रिवेल्यूशन इन फिलासफी पृष्ठ १२६।

[2] वही पृष्ठ ६—८।

जाता है, वैसे-वैसे उसमें द्योतित वस्तुएँ शीर्ण या नष्ट होती जाती हैं। सभी निर्णय सापेक्ष हैं। इनका, सभी का, एक मात्र तात्पर्य उस वस्तु से है जो आत्मिक है। सभी निर्णयों का दार्शनिक अर्थ है कि वे सापेक्ष हैं और उनका तात्पर्य इस वाक्य में है कि सत् आत्मिक है और इस सत् का वर्णन नहीं किया जा सकता है। विश्लेषण से किये गये वस्तुओं के सभी खण्ड इस सत् में घुल मिलकर एकमेक हो जाते हैं। इसीलिए उसके ध्यान में ही विश्लेषण की पराकाष्ठा है। यहाँ कुछ लोगों का मत है कि ब्रैडले ने विश्लेषण की हत्या कर दी और रहस्यवाद को मान्यता दी। किन्तु ब्रैडले ने नागार्जुन की भाँति शून्यता या खंडन और प्रज्ञा या अनुभूति दोनों पर जोर दिया है। उसकी शून्यता-प्रक्रिया हमारे सभी लेखकों को मान्य है और प्रज्ञा प्रक्रिया में उन सब को सन्देह है। वियना-मंडल का तो उससे प्रचंड विरोध भी है। वास्तव में प्रस्तुत नयी क्रान्ति में ब्रैडले की खण्डन-पद्धति का ही विशेष महत्व है।

फ्रेग की महान् क्रान्ति यह है कि उसने गणितशास्त्र का, विशेषत. अंक गणित का, तर्कशास्त्र में अंतर्भाव किया। अंकगणित तर्कशास्त्र का ही अतिशय है। उसने एक प्रत्यय-लिपि का आविष्कार किया जो तर्कशास्त्र की भाषा और लिपि है। प्रत्यय-लिपि उन पारिभाषिक प्रतीकों की लिपि है जो सभी विज्ञान के आधारभूत तर्कशास्त्र के परम सिद्धान्तों को सूचित करते हैं। कार्नप और क्वाइन ने इस तार्किक प्रतीकवाद का और विकास किया, रसल और व्हाइटहेड ने भी इस ओर कुछ सुधार और कुछ विकास किया। लाइबनीज इस प्रतीकवाद का, फ्रेग से पहले का भी, जनक माना गया। पर वर्तमान काल में सभी प्रतीक विदों को फ्रेग से ही प्रेरणा मिली। फ्रेग ने सिद्ध किया कि वाक्यार्थ के घटक संवेदनाएँ, भावनाएँ और कल्पनाएँ नहीं हैं। वाक्यार्थ के घटक अभिधेय, लक्ष्य तथा व्यंग्य शब्दार्थ भी नहीं हैं। वाक्यार्थ के घटक इन दोनों से स्वतन्त्र हैं। वे तार्किक तत्व हैं और उनकी मान्यता पर ही अन्य सभी घटक निर्भर हैं। सभी विज्ञानों की आधारभूत कतिपय स्वयसिद्धियाँ होती हैं। इन स्वयंसिद्धियों का विश्लेषण कतिपय सर्वमान्य तर्क-सिद्धान्तों में किया जा सकता है। इस प्रकार इस विश्लेषण-प्रणाली ने विज्ञानों की एकीकृत इकाई नामक सर्वमान्य सकल सर्वविज्ञान का आधार-स्वरूप एक नये दर्शन-शास्त्र को जन्म दिया। वियनामण्डल के दार्शनिकों ने इस आन्दोलन में काफी भाग लिया।

फ्रेग से भिन्न मूर की विश्लेषण-शैली है। वे प्रत्यय-लिपि के समान किसी नयी लिपि की माँग नहीं करते हैं। वे साधारण लिपि में साधारण भाषा के

ही माध्यम से विश्लेपण करते हैं। शब्द और अर्थ के दार्शनिक अर्थ पर वे विचार करते हैं। पर यह अर्थ निरुक्त, व्याकरण, कोश तथा प्रयोग द्वारा निर्धारित अर्थ नहीं होता है। किसी पद या वाक्य के अर्थ पर विचार करते हुए वे यह दिखलाते हैं कि इसके अर्थ का दार्शनिक तात्पर्य क्या है? दर्शन के किन सिद्धान्तो की इसमे मान्यता मिली है? क्या वह मान्यता तर्कसगत है? उनका भी अर्थ मनोवैज्ञानिक और भाषाशास्त्रीय नही होता है। वह भी तार्किक अर्थ है। साधारण प्रयोगो मे वे बाध खोजते हैं और यथासम्भव बाधरहित भाषा के प्रयोग द्वारा साधारण बोल-चाल तथा साहित्य की पदावली में क्रान्ति करते हैं।

विट्गेन्स्टाइन मूर की प्रणाली के हामी है तो रसल फ्रेग की।

अन्त में अन्तिम दो लेखको ने यह सिद्ध किया है कि दर्शन का कार्यकलाप विश्लेपण की इन दो प्रणालियो तक ही सीमित नही है। दार्शनिक चिंतन विश्लेपण के अतिरिक्त कल्पनामूलक भी होता है। कल्पनामूलक दार्शनिक चिंतन दो प्रकार का होता है—व्याख्यात्मक और गवेषणात्मक। ये दोनो चिंतन-शैलियाँ विश्लेपण की अनुपूरक हैं, विरोधी नहीं[1]। व्याख्यात्मक कल्पना से ससार-चक्र की कोई भी दार्शनिक व्याख्या की जा सकती है जिसमे वस्तुओ का स्वभाव बना रहे और जीवन मे उनका उपयोग भी किया जा सके। गवेषणात्मक कल्पना द्वारा किसी अभूतपूर्व दर्शन-सम्प्रदाय की अवतारणा की जा सकती है जो ससार के वर्तमान वस्तु-चक्र के स्थान पर दूसरा वस्तु-चक्र रखना चाहे या उनको असिद्ध ही करना चाहे। हाँ, यहाँ यही कहना शेष रह जाता है कि ऐसे दर्शन मे उस दार्शनिक को सतोष मिलना चाहिए। पर सबसे उल्लेखयोग्य बात यह है कोई भी दर्शन-सम्प्रदाय सम्पूर्ण सत्य को नही दे सकता है क्योकि वह अनिवार्यत. एकागी है।

वर्तमान विश्लेपणवादियो ने कल्पना के महत्व को स्वीकार करके अपनी सहिष्णुता-नीति का परिचय दिया है[2]। यह बताता है कि विश्लेपण के साथ-ही-साथ सश्लेपण की आवश्यकता है। पर विश्लेपण का जितना विकास हुआ है उतना सश्लेपण का नही हुआ है। मूर ने सश्लेपण का निराकरण नहीं किया है। किन्तु जब तक उसके लिए ऐसी नयी युक्तियाँ न दी जायें जो आज तक नही दी गयी, कोई भी उसका (सश्लेपण का) प्रयोग नहीं कर

---

[1] वही पृष्ठ १०७।

[2] वही पृष्ठ १२५।

सकता है[1]। मूर के इन शब्दो तथा विश्लेषणवादियो की उदार-नीति के फलस्वरूप सश्लेषण की भी नूतन शैलियाँ विकसित होगी, ऐसी हमारी आशा है।

इस समय इग्लैण्ड के अधिकाश दार्शनिक विट्गेन्स्टाइन के दार्शनिक विचारो के गम्भीर अध्ययन मे सलग्न हैं। वे समझ-बूझकर उनमे से कुछ को मान्य तथा कुछ को अमान्य कर रहे हैं। विटगेन्स्टाइन मे अद्यतन दर्शन की उपरोक्त चारो प्रवृत्तियाँ, प्रतीकवादी विश्लेषण, साधारण भाषा द्वारा विश्लेषण, कल्पना द्वारा व्याख्या और कल्पना द्वारा गवेषणा या आविष्कार, कुछ-न-कुछ रूप मे समन्वित ढग से विद्यमान हैं। सम्भवत इसी कारण वह इस युग का सर्वश्रेष्ठ महान् दार्शनिक समझा जाता है। एयर ने तो यहाँ तक कहा कि विट्गेन्स्टाइन और काण्ट मे आश्चर्यजक सान्निध्य है।[2]

तर्क की इन प्रणालियो का ज्ञान रखना बहुत आवश्यक है। सम्भवतः पाश्चात्य जगत् मे निम्नलिखित प्रसिद्ध सुभाषित श्लोक की चरितार्थता आज ही सिद्ध हुई है—

मोह रुणद्धि विमलीकुरुते च बुद्धि सूते च सस्कृतपदव्यवहारशक्तिम्।
शास्त्रान्तराभ्यसनयोग्यतया युनक्ति तर्कश्रमो न तनुते किमिहोपकारम्॥

तर्क मे परिश्रम करना मोह और भ्रम को दूर कर देता है, बुद्धि को मल-रहित बनाता है, सभ्योचित पदो के प्रयोग करने की शक्ति उत्पन्न करता है। तर्क मे श्रम करना क्या-क्या उपकार नही करता?

इन क्रान्तिकारी तार्किको के तत्वदर्शन पर भी थोडा दृष्टिपात कर लेना अप्रासगिक न होगा। पाल का कहना है कि मूर की दृष्टि मे ब्रैडले-जैसे विज्ञानवादी-अद्वयवादी यह समझने मे असफल रहे हैं कि आत्मा का प्रत्यय अत्यन्त व्यामिश्र या पेचीदा है। ब्रैडले नागार्जुन की भाँति अद्वयवादी हैं। फिर उन्ही का कथन है कि विट्गेन्स्टाइन की दृष्टि मे मूर यह समझने मे असफल रहे कि चेतना का प्रत्यय नितान्त पेंचीदा है[3]। मूर चेतना (Consciousness) को परम और साधारण तत्व मानते हैं। इस प्रकार ब्रैडले के पूर्ण विज्ञानवाद को मूर का अर्ध विज्ञानवाद-अर्ध वस्तुवाद ने विश्लेषणात्मक ढग से गलत सिद्ध किया और विट्गेन्स्टाइन के निगूढ वस्तुवाद ने मूर

---

[1] वही पृष्ठ ६५-६६।

[2] वही पृष्ठ ७७।

[3] वही पृष्ठ ६३।

के अर्ध विज्ञानवाद को भी असंगत दिखलाया। पर विट्गेन्स्टाइन के इन शब्दों में रहस्यवाद झलकता है कि "जिसके बारे में कोई कुछ कह नहीं सकता, उस पर उसको अवश्य मौन रहना चाहिए।" वियना-मण्डल ने इस व्यग्र रहस्यवाद को भी दूर कर दिया (पृ० ७५)। न्यूरथ ने कहा—जब तत्वदर्शन की बात आये, तो सचमुच अवश्य मौन रहना चाहिए, किन्तु और सब बातों के बारे में नहीं। विट्गेन्स्टाइन के आलोचक अनुयायी एफ० पी० रैमजे ने इसी का और खुलासा किया कि "जिसे हम कह नहीं सकते, उसे हम कह नहीं सकते और उसके बारे में हम गुनगुना भी नहीं सकते[1]। एयर ने इसी को आगे बढ़ाकर कहा कि तत्वदार्शनिक वाक्य वस्तुतः निरर्थक हैं और आज इस कारण दार्शनिक का कर्तव्य एक बौद्धिक सिपाही की तरह ऐसी चौकीदारी करना है कि जिसमें कोई तत्वदर्शन के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश न करने पाए।[2] वाइजमन ने एयर के भ्रम को दूर करते हुए कहा कि तत्वदर्शन को निरर्थक कहना निरर्थक है[3]। राइल ने इसकी पुष्टि की कि हमारा ऊहापोह करना, हमारी ऊहायें, हमें अपने पूर्वजों से महान् नहीं बनाती हैं और न वे हमें अपने विषय का आचार्य ही बनाती हैं[4]। वार्नक ने इसको और स्पष्ट करते हुए कहा कि तर्कमूलक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism) नामक कोई सिद्धान्त वर्तमान दर्शन का सरकारी मत नहीं है और शायद कोई ऐसा मत भी नहीं है[5]। तर्कमूलक प्रत्यक्षवाद का वितण्डावाद अर्थात् खण्डन की प्रवृत्ति, आज के समकालीन जीवित दर्शन के विपरीत हैं। आज ऐसी प्रवृत्ति नहीं है कि आप यह नहीं कह सकते हैं, आप यह अवश्य नहीं कह सकते हैं। यदि आप शब्दों का अनर्थ नहीं कर रहे हैं और कुछ कह रहे हैं तो आप कह सकते हैं[6]। विश्लेषण सचमुच मनुष्य को सिखाता है कि उसकी समझ से सम्पूर्ण सत्य बतलाने वाला मत भी केवल उसी के लिए अंशतः सत्य है, वह सबके लिए सम्पूर्णतया सत्य नहीं हो सकता।

स्पष्ट है कि तर्कशास्त्र की इन प्रणालियों द्वारा तत्वदर्शन का आज पुनर्निर्माण हो रहा है। प्रस्तुत विवेचन से हमें कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष मिलते

---

[1] वही पृष्ठ ७५।
[2] वही पृष्ठ ७६।
[3] कन्टम्पोरेरी ब्रिटिश फिलासफी, तृतीय खण्ड, पृष्ठ ४८६।
[4] दी रिवोल्यूशन इन फिलासफी पृष्ठ ११।
[5] वही पृष्ठ १२४।
[6] वही पृष्ठ १२५।

हैं :—(१) तर्कशास्त्र और तत्वदर्शन का खण्डन या निराकरण आज नही हो रहा है। युक्तियुक्त अर्थों मे तत्वदर्शन के सम्प्रदाय सदा विकसित होते रहेगे। (२) योरोप की जिन परिस्थितियो मे वर्तमान दार्शनिक क्रान्ति हुई है, उनका इसमे प्रमुख हाथ रहा है। तार्किक भाववाद परिस्थिति-जन्य था। (३) इस दार्शनिक क्रान्ति का विज्ञानवाद से लेकर वर्तमान सभाव्यवाद और अणुवाद तक क्रमिक विकास हुआ हैं। (४) वर्तमान तर्क-प्रणाली और मीमासा, साख्य, प्राचीन न्यायवैशेषिक, जैन, बौद्ध तथा नव्य न्याय की तर्क-प्रणालियाँ मे साम्य है। इनमे और आज के विश्लेषणो मे पर्याप्त समानतायें हैं। (५) विश्लेषण की ओर अधिक ध्यान देने का अर्थ सश्लेषण को भुलाना नही हैं। (६) सश्लेषण की विविध प्रणालियो का अभ्यास करके अद्यतन युग मे दार्शनिकगण सश्लेषण की नूतन प्रणालियो को विकसित करके वतमानोचित दर्शन-सम्प्रदाय देने का प्रयास कर रहे हैं।

———

७

अद्वैत-दर्शन की प्रणाली

१. दर्शन-प्रणाली का धर्म-प्रणाली से भेद

अद्वैत-दर्शन की प्रणाली का सामान्य नाम राजयोग, सर्वकर्म-सन्यासयोग अथवा ज्ञानमार्ग है। भारतीय मनीषी इस प्रणाली को धर्म-निरपेक्ष समझते हैं। वे ज्ञानमार्ग को कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग से श्रेयस्कर समझते हैं। यही नही, वे ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग मे परस्पर विरोध भी दिखलाते हैं। जिस प्रकार ज्ञानकाण्ड या ब्रह्मजिज्ञासा कर्मकाण्ड या धर्म-जिज्ञासा से भिन्न है उसी प्रकार उसकी प्रणाली भी धर्म की प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। धर्म की प्रणाली श्रुतियो का विधि-निषेध आदि द्वारा अर्थ करना है। दर्शन की प्रणाली श्रुतियो का वस्तुपरक अर्थ करना है, न कि क्रियापरक और फिर युक्ति तथा अनुभूति के बल पर उसका स्वतन्त्र निरूपण करना है। युक्ति तथा अनुभूति श्रुतियो की अनुगामिनी मात्र नही है। वे श्रुति-स्वतन्त्र प्रमाण हैं। उन्ही के बल पर तत्व-निरूपण करना चाहिए। श्रुति तो केवल उस विषय के लिए प्रमाण है जिसका अवबोध युक्ति तथा अनुभूति नही करा सकती। इसीलिए शकर का कहना है कि धर्म-जिज्ञासा की भाँति ब्रह्मजिज्ञासा मे श्रुति-स्मृति ही प्रमाण नही है वरन् स्मृति और युक्ति तथा अनुभूति भी यथासभव प्रमाण है—न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाण ब्रह्मजिज्ञासायाम्। किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासभवमिह प्रमाणम्।[१] अद्वैत-दर्शन मे श्रुति प्रमाण मान्य होने के कारण बहुत से लोग इसकी प्रणाली को भी धार्मिक उपासनापरक प्रणाली समझते है। इन लोगो के महत् अज्ञान पर आश्चय होता है। धर्म श्रुति का जो अर्थ करता है वह अद्वैत-दर्शन मे मान्य नही है। जैमिनीय पूर्व-मीमासा सूत्र के अनुसार जो श्रुतियाँ क्रियापरक हैं वे ही सार्थक हैं, शेष

---

[१] शारीरक भाष्य १।१।२

निरर्थक हैं—आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।[1] श्रुतियों का अर्थ है वेदोक्त कर्म और ब्रह्म की उपासना करना। प्रभाकर तो वेदो मे वस्तु-वादी वाक्य तक का प्रत्याख्यान करते हैं। प्रवृत्ति, निवृत्ति, विधि और उनके अंग के अतिरिक्त वस्तुवादी (Ontological) वेदभाग नही है—प्रवृत्ति-निवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्ति।[2] पर अद्वैत के आचार्यों ने धर्ममीमांसाकृत श्रुत्यर्थ का प्रत्याख्यान किया। उनके अनुसार श्रुतियो का तात्पर्य परमार्थ वस्तु ब्रह्म मे है। उसकी उपासना अनावश्यक है। उसको प्रसन्न रखने के लिए कर्म की आवश्यकता नही। वह परमार्थ सत आत्मा ही है। अत आत्म-ज्ञान से ही ब्रह्म-ज्ञान हो जाता है। ज्ञान और कर्म मे आमूलफल अन्तर है। कर्म पुरुषतन्त्र है, ज्ञान वस्तु तन्त्र है। यही कारण है कि ज्ञान कर्म की भाँति करने, न करने और अन्यथा करने के लिए नही है। कर्म का विषय भव्य और अनित्य है, ज्ञान का विषय भूत तथा नित्य है। कर्म का फल अधर्म का परिहार, धर्म का ग्रहण और स्वर्गादि की प्राप्ति है, ज्ञान का फल स्वर्ग-प्राप्ति नही है, वह स्वय अपना फल है। उसकी प्राप्ति से आनन्द मिलता है, शोक दूर होता है, भय भग जाता है। यदि कोई शका करे कि ज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया है तो शकर का कहना है कि दोनो मे इतना अन्तर होते हुए यह सम्भव नही है। आत्म-बोध या वस्तु-ज्ञान मे क्रिया का लेशमात्र भी अवकाश नही है—ज्ञानमेक मुक्त्वा क्रियाया गन्ध-मात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते।[3] यद्यपि अद्वैत मे इस स्थिति को मोक्ष कहा जाता है, तो भी मोक्ष का यहाँ जो अर्थ है वह वह अर्थ नही है जो धर्मशास्त्र मे है। मोक्ष तो यहाँ अक्षरश स्वस्थ, स्वतन्त्र और स्वज्ञ होना है। वस्तुत सभी मुक्त हैं। मोक्ष कोई प्राप्तव्य वस्तु नही है। वह सदा प्राप्त है। इसका सम्बन्ध सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति से लेशमात्र भी नही है। इस अवस्था के लिए कही आना-जाना नही पडता। इसमे आत्म-भिन्न किसी अन्य वस्तु का ज्ञान भी नही होता। इस प्रकार के मोक्ष और धर्म की मुक्ति मे उतना ही सम्बन्ध है जितना शिवा पार्वती और शिवा जम्बुक मे। पार्वती और गीदड दोनो को शिवा कहा जाता है। इसी प्रकार अद्वैत की स्वातन्त्र्य-अवस्था और ईश्वर-सान्निध्य दोनो को मोक्ष कहा जाता है। पर दोनो मे कितना साम्य है? इसका निर्णय सुधीजन अब स्वय कर सकते हैं।

---

[1] पूर्वमीमांसा सूत्र १।२।१

[2] शारीरकभाष्य १।१।४ मे उद्धृत।

[3] शारीरक भाष्य १।१।४

अस्तु, जो लोग अद्वैत की प्रणाली को धार्मिक तथा रहस्यवादी साधनात्मक बताते हैं वे अद्वैत के मोक्ष-सिद्धान्त और श्रुति-प्रमाण को नही समझते हैं। श्रुति-प्रमाण का अभिप्राय धार्मिक रहस्यवादी प्रणाली नही है और न मोक्ष का ही सम्बन्ध किसी धर्म-साधना से है। अद्वैत के आचार्यों ने अपनी प्रणाली को धर्म की प्रणाली से पृथक् रखने के लिए ही धर्मानुकूल श्रुत्यर्थ और मोक्ष का खण्डन किया। इतने पर भी जो अद्वैत के ज्ञानमार्ग मे धर्म की गन्ध सूंघते हैं उन्हे दिवान्ध कहा जाए तो अनुचित नही है।

एक बात और है। लोग यह कह सकते हैं कि यद्यपि अद्वैतदर्शन के मोक्ष तथा धर्म की मुक्ति मे अन्तर हैं तथापि अद्वैत मोक्षशास्त्र है। धर्म का अर्थ यहाँ केवल पूर्वमीमासा ही नही प्रत्युत न्याय वैशेषिक, साख्य योग, बौद्ध, जैन तथा वैष्णववेदान्त है। अद्वैत वेदान्त मे मोक्ष का जो अर्थ है वह किसी भी अन्य भारतीय दर्शन मे नही है। अद्वैत मे मोक्ष, ब्रह्म और आत्मा एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। जो मोक्ष है वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, वही ज्ञान है। यदि लोग कम से कम *'मोक्ष-ब्रह्म-आत्मा'* इस अभेद को ध्यान मे रखें तो वे कदापि नही कह सकते कि अद्वैत दर्शन उस अर्थ मे मोक्ष-शास्त्र है जिसमे न्याय-योग आदि हैं। अद्वैत मोक्ष-शास्त्र, अध्यात्मविद्या, ब्रह्म-विद्या, ज्ञान-विज्ञान या तत्व-ज्ञान है। कुछ लोगो को ब्रह्म शब्द से भ्रम होता है कि अद्वैत धर्मशास्त्र है। पर ब्रह्म का अर्थ यहाँ ईश्वर नही है। ब्रह्म का शाब्दिक और दार्शनिक अथ अनन्तता (the Infinite) है। जो सदा बृहत्तर है वही ब्रह्म है। यह निर-पेक्ष सत् या वस्तु की ही इतर सज्ञा है। अत ब्रह्मविद्या वस्तुता पाश्चात्य तत्व-मीमासा (Metaphysics or ontology) है। यदि कोई ब्रह्म मोक्ष तथा आत्मा आदि शब्दो के कारण अद्वैत को धर्मशास्त्र बतलाए तो उन्हें केवल यह बतलाना है कि वे इन शब्दो के अर्थ और वस्तु पर विचार करें और देखें कि अद्वैत और धर्म मे उनके क्या अर्थ हैं। दर्शन मे अर्थ और वस्तु की प्रधानता होती है। उसकी भाषा युग के अनुसार बदलती है यद्यपि उसके सिद्धान्त नित्य नूतन रहते हैं। अस्तु यदि आज अद्वैत की भाषा धर्म की ओर झुकी हुई प्रतीत होती है तो उसे बदलने की आवश्यकता है। विशुद्ध ज्ञानमार्ग मे ब्रह्म को हम चरम सत्ता, मोक्ष को पूर्ण स्वातन्त्र्य या स्वास्थ्य और आत्मा को ज्ञान कहेंगे।

सच तो यह है कि अद्वैत-विषयक सभी भ्रान्तियो का मूल कारण ज्ञान-मार्ग को न समझना है। ऊपर के विवेचन से इतना स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग मे क्रिया या कर्म का कुछ भी अवकाश नही है। हम अद्वैत-दर्शन को धार्मिक तथा रहस्यवादी बतलाने वालो से पूछना चाहते हैं कि क्या धर्म बिना क्रिया

जो लोग स्वय अपने अनुभव पर विचार करने के वजाय ज्ञान के लिए तीर्थ, गुफा, शास्त्र, परलोक और कर्मकाण्ड की शरण ढूंढते हैं वे उस गडरिये की तरह मूर्ख है जो घर की कोठरी मे छिपी हुई वकरी को कुएँ मे ढूंढता है।

लोकान्तरे वा गुहान्तरे व तीर्थान्तरे कर्मपरम्परान्तरे।
शास्त्रान्तरे नास्त्यनुपश्यतामिह स्वयं पर ब्रह्म विचार्यमाणे॥
तत्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु पश्यति।
गोपः कक्षगतं छाग यथा कूपेषु दुर्मति.[1]॥

अत जिज्ञासु के लिए श्रुतियाँ उतनी उपादेय नही जितनी उसकी अनुभूति हैं। ब्रह्म विषयक वात-चीत और चर्चा करने से ज्ञान नही मिलता है। जिज्ञासु को अपने अनुभव से देखना चाहिए कि ब्रह्म है या नही? और है तो क्या है? जो लोग ऐसा नहीं करते वे महान् अज्ञानी हैं और सदा जरा-मरण जैसे घोर दुख से आक्रान्त रहते हैं।

कुशला ब्रह्मवार्तीया वृत्तिहीना' सुरागिणः।
ते ह्यज्ञानितमा नून पुनरायान्ति यान्ति च[2]॥

अस्तु, अनुभव ही जिज्ञासु का एकमात्र सहायक है। श्रुति रटना केवल शब्दावली हो सकता है। पर यह घोर अज्ञान है कि विना समझे-बूझे विना अनुभव किए हुए, श्रुतियो को जिह्वा पर लादे रहे, दूसरो के ज्ञान को ढोता रहे। अपने अनुभव और अपनी युक्ति के वल पर ही श्रुतियो या दूसरो के अनुभवो का परिहार या परिग्रहण करना चाहिए। शुकपक्षी और वालक भी यदि युक्तियुक्त वचन कहे तो वह ग्राह्य है। वृद्ध विद्वान् और शुकदेव ऋषि भी यदि युक्तहीन वचन कहते हैं तो वह सर्वथा त्याज्य है।

युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं वालादपि शुकादपि।
युक्तिहीनं वचस्त्याज्य वृद्धादपि शुकादपि[3]॥

यह है अनुभव का महत्व और स्वरूप। अनुभव की कोई सीमा नही है। जो जितना ज्ञानी है उसका उतना ही विशाल अनुभव है। कोई ऐसा विषय

---

[1] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह २६० और २६१।

[2] अपरोक्षानुभूति ११३।

[3] यह वेदान्त का अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक है। जो लोग वेदान्त को [illegible] बतलाते हैं उन्हें इस पर विचार करना चाहिए।

नही है जो अनुभव से बाहर हो। न्यूटन जिस वस्तु को नही जान सकता उसे आइन्स्टाइन जान सकता है। जो वस्तु देवदत्त के अनुभव मे नही है वह यज्ञदत्त के अनुभव मे आ सकती है। पर इसका अर्थ यह नही कि अनुभव पुरुषाधीन है। अनुभव सदा वस्तु का होता है। अत वह विषयगत अर्थात् वस्तु के आधीन होता है। इस प्रकार अनुभव ही दर्शन का अथ और इति है। अनुभव से ही उसका आरम्भ और पर्यवसान होता है।

अनुभव मन, बुद्धि, हृदय, अहकार, चक्षु, कर्ण आदि सभी आन्तरिक और बाह्य इन्द्रियो द्वारा होता है। कुछ लोग इन्हे शक्तियाँ (Faculties) कहते हैं। हम चाहे इन्हे शक्तियाँ कहे या न कहे पर सभी को इनके द्वारा प्रदत्त अनुभव मान्य है। अनुभवो की सख्या अमित है। उनका प्रकार-भेद भी अगण्य है। तो भी अद्वैत उन्हे सामान्यत चार कोटियो मे बाँटता है। (१) जाग्रत अनुभव (२) स्वप्न-अनुभव (३) सुषुप्ति-अनुभव और (४) तुरीय अनुभव। हम पहले तुरीय अनुभव को छोड देते हैं। यह अनुभव सब को नही होता है। पर आद्य तीन अनुभव सभी को होते हैं। अनुभवो का यह विभाजन जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओ के आधार पर है। सभी मनुष्य इन तीन अवस्थाओ का अनुभव करते हैं। जाग्रत म वे कुछ अनुभव करते है और स्वप्न मे कुछ और ही। सुषुप्ति में सभी प्रगाढ निद्रा मे डूबे रहते हैं। उस समय आनन्द या आराम के अतिरिक्त और किसी चीज की सुध-बुध नही रहती। केवल जाग्रत और स्वप्न मे नाना वस्तुओ का ज्ञान होता है। अद्वैत-दर्शन की प्रणाली का श्रीगणेश इन्ही तीन प्रकार के अनुभवो के युक्तियुक्त विश्लेषण से होता हैं।

लाक यद्यपि अनुभव को सर्वेसर्वा मानता है तो भी वह स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव को उतना महत्व नहीं देता जितना जाग्रत अनुभव को। वस्तुत स्वप्न पर वह यौक्तिक विचार भी नही करता है। आधुनिक मनो-विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान ने स्वप्न और तत्-सदृश अन्य अवस्थाओ पर पर्याप्त विचार किया। इसके अनुसार जाग्रत अनुभवो से कही विशाल क्षेत्र अजाग्रत अनुभवो का है। यह अद्वैत-दर्शन की अद्वितीय विशेषता है कि वह अपनी प्रणाली मे सभी प्रकार के अनुभवो का यथावकाश उपयोग करता है। विश्व मे किसी भी दर्शन ने आज तक इन तीनो अनुभवो का इतना सुन्दर उपयोग नही किया जितना अद्वैत ने। अनेक दर्शन-सम्प्रदायो ने तो स्वप्न और सुषुप्ति पर विचार तक नही किया। वे केवल जाग्रत अनुभवो को ही लेकर उड पडे और स्वप्न को मिथ्या तथा सुषुप्ति को अज्ञानमात्र कह कर तोष की सास ली। फलत वे एकागी और अपूर्ण रह गए। अद्वैत ने इतना

शीघ्र निर्णय इन अनुभवो पर नही दिया। वह भी स्वप्न को मिथ्या तथा सुषुप्ति को अज्ञान कहता है। पर उसने इन पर गूढ मनन किया, जाग्रत अनुभव से स्वप्न के अनुभव की तुलना की और दोनो मे पर्याप्त साम्य पाया। अद्वैत के प्रथम महान आचार्य गौडपाद[1] का कहना है—

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वं न भिद्यते॥
स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना॥
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।
वितथाः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥
सप्रयोजनता तेषा स्वप्नेऽपि प्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्तेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः॥
अपूर्वं स्थानि धर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम्।
तानय प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षित॰॥
स्वप्न वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पित त्वसत्।
बहिश्चेतो गृहीत सद् दृष्टं वैतथ्यमेतयोः॥
जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतो गृहीत सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः॥
उभयोरपि वैतथ्य भेदाना स्थानयोर्यदि।
क एतान् बुद्धयते भेदान् को वैतेषा विकल्पकः॥

अर्थात्

जैसे स्वप्न के विषय आभ्यन्तर हैं वैसे जाग्रत के भी। दोनो मे संवृतत्व या बन्द होने की दशा अभिन्न है। अत दोनो अवस्थाओ के विषयो मे अभेद होने के कारण मनीषियो ने दोनो को एक कहा है। जो आदि और अन्त मे नहीं है वह मध्य में भी नही है। जो केवल मध्य मे है उसकी केवल प्रतीयमान सत्ता है। वह परमार्थत असत् है। स्वप्न तथा जाग्रत के विषय आदि और

---

[1] माण्डूक्यकारिका २।४—११

अन्त में नही रहते। स्वप्नपूर्व और स्वप्न-पश्चात् स्वप्न विषयो का अत्यन्त अभाव है। इसी प्रकार जाग्रत के पूर्व और जाग्रत के विषय अनुभूत न होने के कारण असत् ही हैं। जैसे जाग्रत विषयो का कुछ प्रयोजन होता है वैसे स्वाप्न का भी। अत आदि और अन्त मे सदृश होने के कारण दोनो असत् है। स्वाप्न विषय अपूर्व है। जैसे कोई शिक्षित पुरुष, उदाहरण के लिए, डाक्टर, अपनी शिक्षा के विषय डाक्टरी को ही जाग्रत अवस्था मे देखता है, वैसे स्वप्न-द्रष्टा भी अपने अनुकूल मनोनीत विषयो का अनुभव करता है। स्वप्न मे मन कुछ वस्तुओ को अपने से बाहर स्थित देखता है और कुछ को अपने अन्दर ही। वह अन्दर अनुभूत वस्तुओ को असत् तथा बाह्य अनुभूत वस्तुओ को सत् समझता है। पर जगने पर उसे दोनो का मिथ्यात्व ज्ञात होता है। इस कारण दोनो असत् हैं। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था मे मन कुछ वस्तुओ को अपने अन्दर स्थित पाता है और कुछ को बाहर। जो बाहर स्थित लगती हैं उन्हे वह सत् जानता है जैसे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात वस्तुएँ। पर जो अभ्यन्तर हैं उन्हे वह असत् समझता है जैसे कल्पना और प्रतिभास के विषय। पर जाग्रत अवस्था के निराकरण होने पर दोनो की असत्ता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार यदि इन दोनो अवस्थाओ मे अनुभूत असत् है तो वह कौन वस्तु है जो इनकी कल्पना करता है और इनको जानता है ?

सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अनुभव सचमुच परस्पर स्वतन्त्र हैं। इन तीन अवस्थाओ मे प्रत्येक पुरुष का तीन व्यक्तित्व रहता है। वह इनमे भिन्न-भिन्न अनुभव करता है। अद्वैत इन तीनो के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकालता है कि जाग्रत अवस्था का जीव विश्व है, स्वप्न का तैजस और सुषुप्ति का प्राज्ञ। इनके तीन कार्य भी हैं। विश्व स्थूल वस्तुओ का उपभोग करता है, तैजस सूक्ष्म का और प्राज्ञ आनन्दमात्र का। इनके तीन पृथक् शरीर भी हैं। विश्व का शरीर स्थूल देह है। तैजस का सूक्ष्म या लिंग शरीर है जिसे हम मनोवैज्ञानिक काया कह सकते हैं। प्राज्ञ का शरीर अविद्या या अज्ञान का रूप है क्योंकि सुषुप्ति मे अज्ञानमात्र छाया रहता है। विश्व को जो वस्तुएँ गोचर होती है उनके समुदाय को वैश्वानर या विराट् कहते हैं। आधुनिक भाषा मे इसे संसार या ब्रह्माण्ड (Universe) कहा जाता है। तैजस जिन वस्तुओ को जानता है उनके समुदाय को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। हम इसे आधुनिक भाषा मे उपचेतन संसार (*Universe of the unconscious*) कह सकते हैं। इसी प्रकार प्राज्ञ को जिस वस्तु की प्रतीति होती है

इसे ईश्वर कहा जाता है। आधुनिक भाषा में हम इसे सुषुप्तिकालीन आनन्द कह सकते हैं।

अद्वैत के इस विश्लेषण की पुष्टि आज का मनोविज्ञान भी कर रहा है। मनुष्य का व्यक्तित्व एक न होकर अनेक है। वह अपनी चेतनावस्था अर्थात् जागृति में कुछ है और अचेतनावस्था अर्थात स्वप्न में कुछ और। सुषुप्ति में तो इसकी सब अवस्थाओं से भिन्न ही अवस्था रहती है। इस कारण हमारा व्यक्तित्व मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से एक नहीं है। वह कम से कम तीन मनोवैज्ञानिक व्यक्तियों का सघात है। हमारे व्यक्तित्व के विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीन परस्पर स्वतन्त्र और स्पष्ट पहलू हैं। यदि अवस्थाओं पर और सूक्ष्म विचार किया जाय तो इनकी सख्या बढ़ सकती है और तदनुकूल हमारा व्यक्तित्व भी अनेकधा बढ़ता जायगा। अद्वैत के परवर्ती आचार्यों ने जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के अतिरिक्त इन तीनों के नाना प्रकार के मिश्रण से अन्य कई अवस्थाओं की अवतारणा की है जिनमें से बहुत वर्तमान मनोविश्लेपणात्मक मनोविज्ञान की गवेषणाओं से मिलती-जुलती है। पर इन अवस्थाओं का सविस्तार वर्णन करना यहाँ अपेक्षित नहीं है।

अद्वैत ने अनुभव-विश्लेषण से केवल मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के विविध प्रकारों की ही छान-बीन नहीं की वरन् उसने यह भी खोजा कि मनोवैज्ञानिक व्यक्तियों का मूल कोई आध्यात्मिक तत्व है। चूंकि हम विभिन्न अवस्थाओं की परस्पर तुलना कर सकते हैं और करते हैं, इस कारण स्पष्ट है कि हम प्राज्ञ, तैजस और विश्व के अतिरिक्त भी कुछ और हैं। तुलना करनेवाले को उन सकल अनुभवों का साक्षी होना पड़ता है जिनकी वह परस्पर तुलना करता है। यदि हम क और ख की परस्पर तुलना करते हैं तो यह सिद्ध है कि हम क और ख को पृथक-पृथक भली-भाँति जानते हैं। अत यदि प्राज्ञ, तैजस और विश्व के अनुभवों की पारस्परिक तुलना सभव है तो यह भी सिद्ध है कि कोई व्यक्तित्व भी इनके मूल में है जो उनका सहगामी और साक्षी है। इसी व्यक्तित्व को अद्वैत आत्मा के नाम से पुकारता है। इस को आचार्यो ने तुरीय कहा है। यह चौथा व्यक्तित्व है यदि हम विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ को क्रमश पहला, दूसरा और तीसरा व्यक्तित्व मान लें तो। पर यह न समझना चाहिए कि तुरीय व्यक्तित्व उपर्युक्त तीन व्यक्तित्वों का पार्श्ववर्ती है। विश्व, तैजस और प्राज्ञ की एकत्र सहस्थिति असभव है। पर इनमें से प्रत्येक का तुरीय के साथ सहभाव होता है। तुरीय का सबध तीनों से है। हम तुरीय को आधार और इन तीनों को इस पर स्थित परस्पर-भिन्न आधेय कह सकते हैं।

जो लोग तुरीय को रहस्यवादी सिद्धान्त बतलाते हैं उन्हे अद्वैत बताता है कि तुरीय प्रत्येक पुरुष का सार्वक्षणिक अनुभव है इसका ज्ञान विश्व, तैजस और प्राज्ञ के ज्ञान के साथ ही साथ होता रहता है। इस कारण इसे प्रतिबोधविदित और सकल भावों तथा पदार्थों की प्रागपेक्षा कहा जाता है। जब तुरीय का ही वास्तविक रूप से ज्ञान किया जाता है तो विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ मिथ्या ज्ञात होते है। यह अनुभव अद्वैत की अनुभूति के नाम से पुकारा जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या केवल तुरीय का अनुभव साधारण मनुष्य के लिए सभव है ? अद्वैत का कहना है कि अपने अनुभव को अपनी युक्ति तथा दूसरो के अनुभव के विचार से बढ़ाना चाहिए। यदि युक्ति से सदा विचार किया जाय तो अद्वैतानुभूति सभव हो सकती है।

३　युक्ति का विश्लेषण

अनुभव का युक्तियुक्त विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि वास्तविक प्रमाण वह है जिसका दूसरे प्रमाण से बाध न हो। जो वस्तुएं एक प्रमाण से सिद्ध और दूसरे से असिद्ध हैं वे यथार्थ नहीं हैं। न हि प्रमाणान्तरबाधितस्य याथार्थ्यमंगीक्रियते महद्भि ।[1] विश्व के अनुभव का बोध तैजस और प्राज्ञ के अनुभव से होता है। इसी प्रकार तैजस के अनुभव का बोध भी विश्व तथा तैजस के अनुभव से होता है। अत परस्पर बाधित होने के कारण विश्व, तैजस और प्राज्ञ के अनुभव प्रमाण नही है। आत्मा या तुरीय का अनुभव अबाधित है क्योंकि वह विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ का सारभूत सहवर्ती और सदा विद्यमान साक्षी है। इस कारण केवल तुरीय का अनुभव प्रमाण है। यह प्रमाण युक्तियुक्त है। अब देखना है कि युक्ति या तर्क किस अर्थ मे प्रमाण या अप्रमाण है।

अद्वैत-साहित्य मे तर्क अथवा युक्ति को यदा-कदा अप्रतिष्ठित और व्यर्थ बताया जाता है।[2] इस पर आलोचकों का कहना है कि अद्वैत की प्रणाली युक्तिहीन और रहस्यवादी है। पर इन आलोचकों ने अद्वैत का केवल ऊपरी बाह्य ज्ञान प्राप्त किया है। शकर का कहना है कि तर्क अप्रतिष्ठित है, इस वाक्य मे तर्क के विशेष अर्थ की ही अव्यवस्था है। सब तर्कों की अप्रतिष्ठा से

---

[1] सर्व वेदान्त सिद्धान्तसार सग्रह ५८० ।

[2] तर्काप्रतिष्ठानात्० ब्रह्मसूत्र २।१।११ ।

तो लोक—व्यवहार का ही उच्छेद हो जाएगा—सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोक व्यवहारोच्छेद प्रसङ्गः। फिर एक तर्क का निराकरण दूसरे तर्क से ही हो सकता है। इस कारण दूसरा तर्क पहले निराकृत तर्क की अपेक्षा मान्य रहेगा। भूत तथा वर्तमान के अनुभव के आधार पर लोग भविष्य के विषय में भी तर्कना करते हैं। यह तर्कना यदि निश्चित नहीं तो सम्भाव्य अवश्य है। यदि कोई कहे कि अद्वैत तर्क से श्रुति को अधिक महत्व देता है तो फिर शंकर का कहना है कि तर्क श्रुति का भी ज्ञापक होने के कारण बलवत्तर है। जब श्रुतियों का सघर्ष होता है तो उसका निराकरण तर्क ही करता है। पुनश्च श्रुत्यर्थ का निरूपण भी तर्क द्वारा ही होता है। अतः यद्यपि तर्क श्रुति का अनुगृहीत है तो भी वह श्रुति से बलवान् स्वतन्त्र प्रमाण है। किसी-किसी विषय में तो तर्क मात्र ही प्रमाण होता है। श्रुति, प्रत्यक्ष आदि का वहाँ अवकाश भी नहीं रहता। क्वचिद् विषयेषु तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वम् उपलभ्यते। अतः जो तर्क को अव्यवस्थित तथा अप्रतिष्ठित कहते हैं वे वस्तुतः तर्क को स्वालोचक बनाते हैं। यदि तर्क अप्रतिष्ठित है तो यह उसका अलंकार है।[1] कान्ट ने द्वन्द्वों (Antinomies) के उद्घाटन से भली भाँति सिद्ध किया है कि कुछ विषयों में हम तर्क से 'न' और 'ना'—ये दोनों बातें सिद्ध कर सकते हैं। हम सिद्ध कर सकते हैं कि ईश्वर है और ईश्वर नहीं है। दोनों तर्क तुल्यबल होते हैं। एक दूसरे का खण्डन और मण्डन नहीं कर सकता। इस कारण तर्क का यह स्वभाव है कि उसकी स्वतः किसी चरम सिद्धान्त में परिणति नहीं होती। उसका कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता, बस यही तर्क की सीमा है। हम तर्क द्वारा निश्चय पर पहुँचने का प्रयास करते हैं। आरम्भ और मध्य में यह हमें कुछ निश्चय देता भी है। पर अन्ततोगत्वा जब हम केवल तर्क का ही सहारा लेते हैं तो यह हमें घोर द्वन्द्व में छोड़ देता है। हेगल ने द्वन्द्वों के समन्वय के लिए [illegible] की कल्पना की। पर जब द्वन्द्व के दो विरुद्ध भावों का समन्वय तब तीसरे भाव में होता है तो फिर चौथा भाव भी उपस्थित होता है जिससे [illegible] तीसरे भाव का पुनः द्वन्द्व होने लगता है। इस प्रकार उसके दर्शन में भी द्वन्द्व अनन्त है। [illegible] असमाधान और [illegible] है।

पर यदि द्वन्द्व [illegible] है और [illegible] तो फिर [illegible] है। [illegible] और [illegible] (C[illegible])[illegible] के

[1] ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।१।११।

शरण लेते हैं। कुछ लोग विज्ञान और कुछ धर्म का पक्ष ग्रहण करते हैं। पर ये सभी सकट-काल मे दर्शन-शत्रु हैं न कि दर्शन-मित्र। सच्चा दार्शनिक वह है जो इस घोर सशय के समय सशयारूढ बना रहे। यदि पैर आगे न बढ सकें तो सग्राम-भूमि मे पीछे हटने के बजाय वही खडा रह कर लडते रहना सैनिक के लिए श्रेयस्कर है। यही हाल सशयग्रस्त दार्शनिक का भी है। वह कायर है जो पीछे हटकर लोकव्यवहार, धर्म या विज्ञान की शरण ले। उसे यदि आगे का मार्ग नही मिलता तो युक्तित वह सशयारूढ ही रहता है। सशयात्मा विनश्यति, सशय करनेवाला नष्ट हो जाता है, यह दर्शन-द्रोहियो का सिद्धान्त है। अत· दार्शनिक सशयवाद युक्ति का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। नागसेन और नागार्जुन की, पिरहो और ह्यूम की, इसीलिए सदा श्रेष्ठ दार्शनिको मे गणना होगी। यदि केवल तर्क या युक्ति ही प्रमाण है तो फिर दार्शनिक सशयवाद ही दर्शन की पराकाष्ठा है। पर युक्ति के अतिरिक्त भी अनुभव होता है। जो अनुभव युक्ति से ऊर्ध्व तथा युक्तियुक्त हो वह सशयवाद से हमे आगे बढा सकता है। तर्क की सीमा के अन्दर केवल वे वस्तुएँ है जिनका इन्द्रिय से ज्ञान होता हैं। प्रकृति से परे जो अनुभव है उसे अचिन्त्य कहा जाता है। तर्क से उसकी योजना सम्भव नही है। दूसरो का अनुभव श्रुति बनकर यहाँ हमारी सहायता करता है। अत श्रुति हमे केवल अतीन्द्रिय वस्तु के ज्ञान की उत्पत्ति मे ही प्रमाण है—श्रुतिश्च न प्रमाणम् अतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ।[२] जब युक्ति दो तुल्यबल ज्ञानमार्गो के चतुष्पथ पर हमे लेकर खडा कर देती है तो उस समय हमे थोडा रुककर मनन करना चाहिए। पहले युक्ति का आलोचन करना चाहिए। फिर अनुभव की परीक्षा करनी चाहिए क्योकि वह युक्ति से विशाल है और हमे कुछ मार्ग दिखला सकता है। यदि अपने अनुभव मे कुछ प्रगति-सूचक सकेत न मिले तो दूसरो के अनुभव की समीक्षा करनी चाहिए। यदि यहाँ युक्तिसम्मत कोई मार्ग मिल जाय तो उस पर चलना चाहिए। यही मनन की विधि है। युक्ति जब द्वैविध्य मे टाले तो उसके मूल को पकडना और समझना चाहिए। यही युक्ति के आलोचन का अर्थ है।

अब देखना है कि युक्ति का मूल क्या है? युक्ति का मूल स्वत युक्ति नहीं हो सकती। कारण, वह स्वय अप्रतिष्ठित है। यद्यपि कुछ विषयो मे उसकी प्रतिष्ठा मर्व प्रमाण सिद्ध है तो भी उन विषयो पर उसकी दो समान

---

[१] भगवद्गीता ४।४०।

[२] शारीरक भाष्य २।३।१।

रायें होती हैं और इस कारण युक्ति का मूल दो भिन्न-भिन्न भाव होने चाहिए। यदि एक ही भाव युक्ति का मूल होता तो युक्ति एक विषय पर दो समान निर्णय न देती। यदि स्वय युक्ति अपना मूल होती तो वह अपना खण्डन न करती। यदि खण्डन ही उसका स्वभाव होता तो वह मण्डन कभी न करती और करती भी तो वहाँ वह अप्रमाण होती। अस्तु खण्डन या अभाव युक्ति का मूल नही हो सकता। युक्ति का मूल कोई भाव ही होना चाहिए। अनुभव चूंकि ज्ञान का आदि और अन्त दोनो है इस कारण वही युक्ति का मूल और फल दोनो हैं। अनुभव मे ही युक्ति उगती है और अनुभव को ही पुन वह जन्म देती है। पर अनुभव बहुत बड़ा अर्थ देनेवाला पद है। इसके अन्दर यथार्थ तथा अयथार्थ सभी प्रकार के ज्ञान आते हैं। यदि कार्य या फल यथार्थ है तो कारण या बीज भी यथार्थ होना चाहिए। युक्ति यदि सत्य-स्वरूप है तो उसका आधार अयथार्थ अनुभव नही हो सकता है। इस कारण युक्ति का मूल भ्रम, प्रतिभास, स्वप्न आदि नही है। केवल इन्ही अयथार्थ अनुभवो पर आधारित युक्ति वस्तुत. युक्ति नही है, वह युक्ति का असफल आभास है। फिर क्या प्रत्यक्ष युक्ति का मूल हो सकता है ? हमने अन्यत्र प्रत्यक्ष का विवेचन करके निष्कर्ष निकाला है कि प्रत्यक्ष स्वत. अप्रमाण है और यह स्पष्ट है कि जो स्वत अप्रमाण है वह युक्ति का मूल नहीं हो सकता है क्योंकि युक्ति स्वत प्रमाण है।[1] काण्ट ने प्रत्यक्षवाद और युक्तिवाद दोनों का खण्डन किया। प्रत्यक्षवाद के अभाव मे युक्तिवाद खोखला है और युक्तिवाद के अभाव मे प्रत्यक्षवाद अन्धा। इस प्रकार उसने ह्यूम के शुद्ध प्रत्यक्षवाद और लाइबनीज के शुद्ध युक्तिवाद को व्यर्थ बतलाते हुए सिद्ध किया कि ज्ञान मे दोनों का युगपत् सहभाव होता है। आदिम अनुभव न तो प्रत्यक्ष है और न युक्ति। दोनो की सह-स्थिति से उत्पन्न वह एक अनोखा ही अनुभव है। प्रत्यक्ष के प्रदत्त और युक्ति के बोध या प्रत्यय दोनो साथ-साथ ज्ञान की सामग्री हैं। यदि हम काण्ट के विश्लेषण को ही मानें तो यह नही कह सकते कि प्रत्यक्ष युक्ति का मूल स्रोत है। जिन दो वस्तुओं का युगपत सहभाव होता है वे एक दूसरे का मूल नही हो सकती। फिर प्रत्यक्ष के बिना युक्ति मूक नहीं हैं। गणित की वस्तुओं का प्रत्यक्ष नही होता तो भी युक्ति द्वारा उनका विवेचन सभव है। प्रत्यक्ष का निरूपण युक्ति ही करती है।

---

[1] देखिए इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज १९५४ मे मेरा लेख—परसेप्चुअल वैलिडिटी (प्रत्यक्ष-प्रामाण्य)।

युक्ति के अभाव मे प्रत्यक्ष असभव है। अत प्रत्यक्ष स्वय युक्तिमूलक है। वह युक्ति का मूल कैसे हो सकता है ?

डेकार्ट और स्पीनाजा ने सिद्ध किया है कि युक्ति का मूल प्रातिभ ज्ञान है। प्रातिभ किसी भी वस्तु का साक्षात्कार है। यह स्वत. सिद्ध ज्ञान है। इसका युक्ति से खण्डन नही हो सकता। हाँ, युक्ति इसका मण्डन अवश्य कर सकती और करती है। तो क्या प्रातिभ ज्ञान ही युक्ति का मूल स्रोत है ? अद्वैत दर्शन स्पीनोजा और डेकार्ट के उक्त सिद्धात को कुछ हद तक मानता हैं। दूसरो के प्रातिभो की ही राशि का नाम भारत मे श्रुति या उपनिषद् के नाम मे विख्यात है। अद्वैत इन प्रातिभो के उस तात्पर्य को मानता है जिसमे इन सबका युक्तियुक्त समन्वय होता है। इसका वर्णन अभी किया जायगा। पर जब तक हमे आत्म-निश्चय न हो, जब तक हमे स्वय प्रातिभ ज्ञान न हो, तब तक हम प्रातिभ ज्ञान को युक्ति का मूल नही मान सकते, तब तक हमारा सशयवाद ही सर्वश्रेष्ठ दर्शन-सिद्धान्त है। किसी वस्तु के मूल समझने मे जितनी कठिनाई होती है उतनी उस वस्तु को जानने मे नही होती। गणित के प्रश्नो को हल करने मे उतनी कठिनता नही होती जितनी कि गणित के आधारभूत सिद्धान्तो के समझने मे। यही हाल युक्ति तथा युक्ति के आधार के भी विषय मे है। युक्ति का आधार उतनी सरलता से नही समझा जा सकता जितनी युक्ति। आधार समझने मे आधेय की उतनी उपयोगिता नही है जितनी कि आधेय समझने मे आधार की है। यही कारण है कि युक्ति का मूल जानना निरन्तर मनन पर निर्भर है। जो जितना ही निरन्तर मनन करेगा, जो जितना ही अधिक युक्ति के सहारे सशयारूढ बना रहेगा, वह उतना ही अधिक युक्ति के आधार प्रातिभ ज्ञान को समझेगा।

यदि हम द्वन्द्वो पर अब विचार करें तो उनके उद्भव का कारण जान सकते हैं। काण्ट ने केवल द्वन्द्वो का उद्घाटन किया। उसने उनके उद्भव पर प्रकाश नही डाला। कारण, वह स्वय प्रातिभ ज्ञान का अनुभव न कर सका। सच तो यह है कि युक्ति का मूल वस्तुत प्रातिभ है और आपातत प्रत्यक्ष। हम कभी-कभी सारे अनुभवो का मूल-स्रोत या इन्द्रियगोचर ज्ञान मान बैठते हैं। प्रत्यक्षदत्त तथ्यो के आधार पर फिर किसी भी सिद्धान्त के लिए युक्ति देते हैं। हमारी युक्ति ऊपर से प्रत्यक्ष से निकली प्रतीत होती है पर जब हम प्रत्यक्ष के स्वरूप पर विचार करते है तो ज्ञान होता है कि प्रत्यक्ष का आधार स्वय युक्ति है। प्रत्यक्ष का प्राण व्याख्यान है न कि सवित् (sensation)। फिर सवित् सदा व्याख्याता मन या बुद्धि मे ही घटित होती

है। अतः युक्ति का मूल प्रत्यक्ष न होकर स्वय युक्ति प्रत्यक्ष का मूल है। द्वन्द्वो का कारण यह है कि उसमे एक भाव की सिद्धि प्रत्यक्षमूलक युक्ति से होती है और दूसरे की प्रातिभ मूलक युक्ति से। चूंकि हम प्रत्यक्ष को प्रमाण मान बैठते हैं अत हमे दोनो तर्क तुल्यबल प्रतीत होते हैं। पर जो प्रातिभ नही जानते या जो प्रत्यक्ष को असगत जानते हैं उनके लिये युक्ति के द्वन्द्वो का उद्भव असभव है। द्वन्द्वो का उद्भव केवल उस बुद्धि मे होता है जो दो नावो पर पैर रखती है, जो प्रातिभ तथा प्रत्यक्ष पर स्थित है। आश्चर्य होता है कि काण्ट द्वन्द्वो की अवतारणा करने पर भी द्वन्द्वो के इस कारण को न जान सका। उसकी भूल का मूल कारण प्रातिभ को प्रत्यक्ष से अभिन्न समझना है। यदि उसने प्रातिभ पर विचार किया होता तो फिर द्वन्द्वो की अवतारणा गलत सिद्ध हो जाती। कारण, द्वन्द्व के जिस भाव की सिद्धि प्रत्यक्षमूलक युक्ति द्वारा होती है वह तर्काभास है, वह सच्चा तर्क नही है। द्वन्द्व का केवल वही भाव सत्य है जिसकी सिद्धि प्रातिभमूलक युक्ति मे होती है। पर जब तक निरन्तर मनन से युक्ति द्वारा प्रत्यक्ष और उस पर आधारित भाव-प्रपच का खण्डन न हो जाय तब तक सशय का उच्छेद नही हो सकता। यही कारण है कि अद्वैत दर्शन प्रत्यक्ष की कटु आलोचना करके इसे अप्रमाण सिद्ध करता है।[1]

युक्ति अनुभव और अपने उत्थापित ज्ञान के आधार पर तत्व-चिंतन करती है। खण्डन और मण्डन, प्रतिषेधक तथा विधायक इसके दो पहलू हैं। हम पहले प्रतिषेधक तर्क को लेते हैं। अद्वैत की प्रणाली मे तीन विभिन्न युक्तियां या न्यायो का प्रयोग होता है, (१) चतुष्कोटिक न्याय, (२) द्विकोटिक न्याय और (३) एककोटिक न्याय। इन तीनो न्यायो द्वारा प्रधानत परमत का खण्डन किया जाता है और गौणत स्वमत का मण्डन भी अपेक्षित रहता है। चतुष्कोटिक न्याय प्रणाली का पूर्ण विकास सबसे पहले नागार्जुन के दर्शन मे हुआ। इस कारण कुछ लोग इसको बौद्ध प्रणाली समझते हैं। पर माण्डूक्योपनिषद मे भी इस प्रणाली का प्रयोग है। नान्त प्रज्ञ न बहि प्रज्ञ नोभयत प्रज्ञ न प्रज्ञानघन न प्रज्ञ नाप्रज्ञम्।[2] आत्मा न आभ्यान्तर ज्ञान है, न बाह्य, न दोनो और न ज्ञानविशेष का पुज। वह न ज्ञान है न अज्ञान। इस प्रकार

---

[1] द्रष्टव्य सर्व वेदान्त सिद्धान्त सार सग्रह २८५-२८८।

[2] माण्डूक्योपनिषत् ७।

आभ्यन्तर, बाह्य, उभय तथा अनुभय—ये चार कोटियाँ उपनिषद् में प्राप्त हैं। कुछ लोग माण्डूक्योपनिषद् को गौडपादकृत माण्डूक्यकारिका से अर्वाचीन मानते हैं और कहते हैं कि चतुष्कोटिक न्यायपद्धति बौद्ध दर्शन से अद्वैत दर्शन में ग्रहण की गई। यहाँ इस ऐतिहासिक प्रश्न पर विचार करने का अवकाश नहीं है। हाँ, इतना निर्विवाद है कि चाहे चतुष्कोटिक न्याय अद्वैत से बौद्ध दर्शन में गया हो या बौद्ध दर्शन से अद्वैत में आया हो, पर वह अद्वैत की प्रणाली का मुख्य अंग है। गौडपाद[1] ने स्पष्ट व्याख्यान किया—

> अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
> चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥
> कोटयश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
> भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥

अर्थात्

अस्तिवाद, नास्तिवाद अस्ति-नास्ति-उभयवाद और नास्ति-नास्तिवाद अर्थात् अत्यन्त शून्यवाद ये चारों मत आत्मा के विषय में प्रचलित हैं। अस्ति, नास्ति, उभय और अभाव ये ही चार कोटियाँ हैं। अस्तिभाव का आशय है कि आत्मा चल है। नास्तिभाव का अर्थ है कि आत्मा स्थिर है। उभयवाद का तात्पर्य है कि आत्मा चल और स्थिर, सत्-असत् दोनों है। आत्मा का अत्यन्त अभाव है यह चतुर्थ वाद है। इन चारों मतों के मानने वाले भ्रान्त हैं। आत्मा इन चारों कोटियों से अस्पृष्ट है। जो इस तथ्य को जानता है उसी को सत्य का ज्ञान होता है।

किसी भी पदार्थ या भाव को लेकर चार प्रकार की कोटियाँ बनाई जा सकती हैं। उदाहरण के लिए किसी भाव या पदार्थ 'क' को लीजिए। क स्वयं एक कोटि है। दूसरी कोटि क का विरोधी भाव अ-क है। तीसरी कोटि क और अ-क दोनों की सहस्थिति है। चौथी कोटि उक्त तीनों कोटियों का अभाव है अर्थात् न क और न अ-क। इस प्रकार क, अ-क, क और अ-क, न क और न अ-क ये चार कोटियाँ हैं। अद्वैत सिद्ध करता है कि सम्यक् विचार करने से इन कोटियों में से प्रत्येक स्वतः असंगत सिद्ध होती है। इस कारण सचमुच ये चारों कोटियाँ सत्य नहीं हैं। वस्तु इन चारों से भिन्न एक अन्य ही कोटि है, वह स्वतन्त्र कोटि है। अन्य कोटि में उसका अनुवाद नहीं

---

[1] माण्डूक्यकारिका ४। ८३-८४ ।

हो सकता। दूसरो के मत को काटने के लिए भी चतुष्कोटिक न्याय प्रणाली का बहुधा उपयोग किया जाता है। दूसरो के किसी भी सिद्धान्त को हम चार विकल्पो मे पहले रखते हैं। उदाहरण के लिए बौद्ध सिद्धान्त के क्षणभगुरवाद को लीजिए। यह या तो सत्य है या असत्य या दोनो या दोनो नही। यदि हम इसे समझने का प्रयास करते हैं तो यह चारो विकल्पो मे से एक भी विकल्प नही सिद्ध होता। अतः क्षणभगुरवाद असगत है। इस प्रकार शकरोत्तर अद्वैत के आचार्यों ने, विशेषतः श्रीहर्ष ने, इस प्रणाली द्वारा सभी प्रकार के पदार्थों, गुणो, क्रियाओ और वादो का खण्डन किया है।

द्विकोटिक न्याय चतुष्कोटिक न्याय का ही अग्रूप है। इसमे प्राय किसी पदार्थ के सत् और असत् इन्ही दोनो पहलुओ पर या किन्हीं दो परस्पर विरोधी भावो पर विचार किया जाता है। जैसे माया न सत् है न असत्, न तत्व है न अतत्व, न ज्ञान है न अज्ञान, न भाव है न अभाव। वह इन दोनो से परे अनिर्वचनीयता की कोटि है। शकराचार्य ने दूसरो के मत को काटने के लिए इस प्रणाली का बहुत प्रयोग किया है। वे प्राय एक उभयत - पाश (Dilemma) मे दूसरो के मत को व्यक्त करते हैं। फिर उभयत पाश की दोनो कोटियो को काटते हैं। कभी-कभी एक उभयत पाश के अन्दर दूसरा और दूसरे के अन्दर तीसरा उभयत पाश व्यक्त रहता है। उदाहरण के लिए किसी वस्तु ल को लीजिए। ल या तो क हो सकता है या ख। वह क नही हो सकता। फिर यदि वह ख हैं तो वह या तो च-रूप हो सकता है या छ-रूप। वह च या च-रूप नहीं हो सकता है। अत वह छ है। फिर यदि वह छ है तो विचार करने पर पुन वह या तो प हो सकता है या फ। वह प नहीं है। अन्तत वह फ भी नहीं हो सकता। यहाँ सर्वत्र न होने का मानदड 'असगति' है। हम इस उदाहरण मे उभयत पाश के अन्दर उभयत पाश की सख्या को तब तक बढा सकते हैं जब तक हमको विकल्प मिलते जायेंगे। अस्तु कभी-कभी पांच-पांच और छ-छ उभयत पाश एक बडे उभयत पाश के अन्दर शामिल रहते हैं। यही अद्वैत दार्शनिको के बुद्धि-कौशल का परिचय मिलता है। यह द्विकोटिक न्याय खण्डनात्मक और मण्डनात्मक दोनो है। अपने मत का पोषण भी इसके द्वारा किया जाता है। आधुनिक दर्शन मे ब्रैडले ने इस प्रणाली का खूब उपयोग किया। उसने उभयत पाशो के बल पर ही अपनी "सत् और आभास" (Appearance & Reality) नामक पुस्तक मे तत्व-निरूपण किया है। आभास का भाग तो उभयत पाश पर ही अधिक

अवलम्बित है। अद्वैत दार्शनिकों की भाँति वह भी किसी पदार्थ या भाव की आभासता द्विकोटिक न्यायप्रणाली द्वारा सिद्ध करता है।

अब रहा एककोटिक न्याय। इसको प्रायः नेति-नेति की प्रणाली कहा है। अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते[1]—अध्यारोप तथा अपवाद द्वारा ही निष्प्रपन्च वस्तु का निरूपण किया जाता है। इस विधि में हम पहले किसी वस्तु को सत् मान लेते हैं और बाद को युक्ति द्वारा इसको असत् सिद्ध कर किसी दूसरी वस्तु को सत् मानते हैं। इसी प्रकार सारी वस्तुएँ जिन्हें हम क्रमशः सत् मानते रहते हैं असत् सिद्ध की जाती हैं। आत्मा का निरूपण प्रायः इसी रीति से किया जाता है।[2] पहले शरीर को ही आत्मा माना जाता है। पर जब हम सूक्ष्म विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि परिवर्तनशील और नश्वर शरीर आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा परमार्थ सत् होने के कारण सदा विद्यमान और एकरूप है। इसी प्रकार हम क्रमशः इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि, विज्ञान, आनन्द आदि को आत्मा मानकर खण्डन करते हैं कि आत्मा इनमें से कोई भी भाव नहीं हो सकता है। आखिर में हम नेति-नेति इस विधि को ही आत्मा सिद्ध करते हैं। यहाँ साध्य और साधन की, विधेय और विधि की, सिद्धान्त तथा प्रणाली की एकरूपता ज्ञात होती है। वस्तुतः जो तर्क या उपाय सबका खण्डन करता है वह स्वयं परमार्थ सत् और उपेय है।

एककोटिक न्याय का विधायक पहलू भी अद्वैत प्रणाली में प्रयुक्त होता है। अनुभव के आधार पर बिना किसी युक्ति द्वारा पुष्टि के कोई भी वाक्य अद्वैत दार्शनिक को मान्य नहीं है। अस्तु यत्र-तत्र अद्वैत-साहित्य में ऐसे बहुत से तर्क भरे पड़े हैं जिनमें अनुभव की तीव्रता और सूक्ष्मता जानी जाती है। ऐसे तर्कों के उदाहरण-स्वरूप हम यहाँ दो अत्यन्त प्रसिद्ध तर्कों का उल्लेख करना चाहते हैं। शंकर का कहना है कि आत्मा ही सब कुछ है। कारण, आत्मा के बिना किसी भी वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता। सभी वस्तुओं का ग्रहण आत्मा की अनिवार्य कोटि द्वारा होने के कारण आत्मा ही सब कुछ है। यह बहुत बड़ा तर्क है जो आत्मा मात्र की परमार्थ सत्ता घोषित करता है। दूसरा प्रसिद्ध तर्क—स्वात्मनि क्रियाविरोधात् है। किसी वस्तु में स्वयंकृत क्रिया नहीं हो सकती। नट अपने ऊपर नहीं नाच सकता। पदार्थ अपने को ही नहीं

---

[1] सर्व वेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह २९७।
[2] द्रष्टव्य आत्मा का स्वभाव, अध्याय ८।

जान सकता। आँख स्वय को नहीं देख सकती। इन सब को जानने के लिए इन सब से भिन्न आत्मा की आवश्यकता है। भौतिकवाद को काटने के लिए यह युक्ति पर्याप्त है। भूत द्रव्य स्वय अपने को जान नही सकता। उसका ज्ञान उसमे उत्पन्न नहीं होता है। अत ज्ञान भूत द्रव्यो मे भिन्न उनसे पूर्व सत् है।

४. श्रुति का विश्लेषण और समन्वय

श्रुति-प्रमाण पर बहुत से लोग नाक भी सिकोडने लगते है। पर वस्तुत वे श्रुति का अर्थ नहीं जानते। हमारे ज्ञान या अनुभव का तीन चौथाई से भी अधिक भाग श्रुति या शब्द प्रमाण पर निर्भर है। प्रतीति तीन प्रकार की होती है गुरु से, शास्त्र से और अपने से। अपने से होनेवाली प्रतीति अनुभव है। गुरु और शास्त्र से जो ज्ञान होता है उसे ही श्रुति कहा जाता है। गुरु शब्द का अर्थ यहाँ परिवार के व्यक्ति, समाज के व्यक्ति तथा अध्यापक जन है। मानवता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सबसे पहला और बड़ा साधन यही शब्द-प्रमाण है। शब्द प्रमाण प्रत्यक्ष, युक्ति और प्रातिभ सभी ज्ञानो का ज्ञापक है। पर इसे अपने अनुभव में अनूदित करना चाहिए। जैसे कोई व्यक्ति किसी सोते हुए मनुष्य को शब्द से जगाता है, वैसे शब्द-प्रमाण भी संशयग्रस्त दार्शनिक की आँख खोलता है। अद्वैत साहित्य मे गान्धारदेशीय पुरुष की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। किसी गान्धार नगर के रहनेवाले मनुष्य की आँखो पर पट्टी बाँधकर किसी सज्जन ने उसे ले जाकर एक घोर निर्जन वन मे छोड दिया और तब उसकी पट्टियों को खोल दिया। बेचारा गान्धार-नागरिक कुछ देर तक घबराता रहा। बाद मे विदेश मे अपने को पाकर स्वदेश जाने की इसने इच्छा की। इधर-उधर घूमकर मार्ग ढूंढने लगा। पर उसको कोई भी मार्ग उस वन मे न मिला। भाग्य से किसी वनेचर से उसकी भेंट हुई। और तब उसके द्वारा उसे गान्धार का मार्ग मालूम हुआ। फिर क्या था? वह लोगो से पूछते-पाछते और अपनी बुद्धि से सोचते-समझते आखिर मे अपने नगर पहुँच गया। इसी प्रकार दार्शनिक भी श्रुति से ज्ञान लेकर अपनी बुद्धि से तर्कना करते-करते अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता है। बस यही श्रुति की उपयोगिता है।

यहाँ यह न समझना चाहिए कि श्रुति तर्क-शत्रु या तर्क-विरुद्ध होती है। शास्त्रीय वचन वस्तुओं के स्वरूप को बदल नहीं सकते है। वे केवल उन पर प्रकाश डालते है। श्रुति लोक-अनुभव के विरुद्ध बात नहीं करती। और यदि

यह कही ऐसा करती है तो वहाँ वह अमान्य होगी । कोई भी श्रुति यह नहीं कह सकती कि अग्नि शीतल होती है और सूर्य तपता नही है ।[1] परस्पर विरुद्ध बातों का भी वर्णन श्रुति के मान का नही है । यदि मूढ व्यक्ति असगत बातें नही करता तो श्रुतियाँ कैसे कर सकती हैं क्योंकि वे मेधावी पुरुषो की वाणियाँ हैं ? अत श्रुति तर्क-शत्रु न होकर तर्क-मित्र है । वह लौकिक दृष्टान्तो से उस ज्ञान को बतलाती हैं जो केवल तर्क से सम्भव नही है । वस्तुत श्रुति महान् दार्शनिको के यौक्तिक और प्रातिभ ज्ञानो का वाङ्मय मे सुरक्षित पुज है । युक्ति की भाँति श्रुति या प्रातिभ की भी सीमा है । वह तर्क विरुद्ध बात नहीं कह सकती । लोक-विरुद्ध वस्तु का निरूपण भी उसके बूते का नही है । वस्तुओ के स्वभाव को बदलना भी उसकी शक्ति से बाहर है । अत श्रुति केवल तर्कोर्ध्व तथा तर्क-सम्मत वस्तु का ही ज्ञान है । वह कारक न होकर केवल ज्ञापक है ।

अद्वैत के आचार्यो का कहना है कि सभी श्रुति-वाक्यो का पहले विश्लेषण करना चाहिए । देखना चाहिए कि उनका अर्थ अभिधेय है या लाक्षणिक । अभिधा और लक्षणा ये दो शब्द-शक्तियाँ हैं । इनसे पहले किसी के भी कथित वाक्य का प्रधान या गौण अर्थ जानने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । फिर सभी अर्थो पर मनन द्वारा उनके साम्य तथा वैषम्य पर विचार करके तत्पश्चात गौण और प्रधान अर्थो का सामन्जस्य बैठाना चाहिए । वाक्य के अर्थ का विश्लेषण अद्वैत ठीक उसी प्रकार से करता है जिस प्रकार आधुनिक तार्किक प्रत्यक्षवादी करते हैं । सभी श्रुति-वाक्यो का विश्लेषण अद्वैत ने किया है । उदाहरण के लिए मैं सुखपूर्वक सोया, सुखमहमस्वाप्सम् इस वाक्य को लीजिए । कितने दार्शनिक मानते हैं कि सुषुप्ति मे आत्मा का अभाव रहता है । पर अद्वैत उक्त वाक्य के विश्लेषणो से सिद्ध करता है कि सुषुप्ति मे भी आत्मा का भाव अनिवार्य और अपेक्षित है । अन्यथा उक्त वाक्य अनुपपन्न हो जायगा । जो सुख मिलता है उसका अनुभवकर्त्ता अवश्य होना चाहिए । यह न समझना चाहिए कि जागने पर ही उक्त वाक्यगत अनुभव होता है । जागने पर तो केवल स्मरण होता है कि जागरणपूर्व सुप्ति अवस्था मे सुख मिल रहा था । फिर यदि सुप्ति मे आत्मा नहीं है तो सुप्तिपूर्व अनुभव का सुप्ति-पश्चात् अनुभव के साथ सामन्जस्य और अनुस्मरण असम्भव हो जाता है ।

---

[1] द्रष्टव्य श करकृत बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य २।१।२० और प्रश्नोपनिषद्भाष्य ६।२

इसी प्रकार तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म इत्यादि महावाक्यों का भी अद्वैत सुन्दर विश्लेषण करता है। हम यहाँ केवल तत्वमसि, वह तू है, इस महावाक्य को लेते हैं। यहाँ तीन पद हैं तू, वह और है। "तू" का सामान्य अभिधेय अर्थ मन-शरीर-धारी जीव है। "वह" का सामान्य अभिधेय अर्थ विषयगत सत्ता है। "है" का अभिप्राय दोनों का अभेद होना है। पर ऐसा अभिधेय अर्थ करना विप्रतिषिद्ध है क्योंकि मन-शरीर-धारी जीव सकल ससार का एक क्षुद्र नश्वर कण हैं और विषयगत सत्ता बहुत बडी अनश्वर वस्तु है। दोनों एक कैसे हो सकते हैं? अतएव यहाँ मुख्यार्थ का बोध होता है। अभिधा से तात्पर्य अनुपपन्न होता है। फिर लक्षणा का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि जहाँ अभिधा परस्पर विप्रतिषिद्ध या असगत अर्थ दे और जहाँ कोई प्रयोजन या रूढि हो वहाँ लक्षणा का क्षेत्र होता है। यहाँ रूढि कोई नही है। प्रयोजन तू और वह का अभेदान्वय है। अस्तु, यह लक्षणा का कार्य-क्षेत्र है। "तू" का क्या अर्थ है? "तू" का अर्थ है आत्मा, न कि आनन्द, विज्ञान, बुद्धि, मन, प्राण, शरीर आदि। आत्मा बोध-स्वरूप है। "वह" का क्या अर्थ है? "वह" स्थूल वस्तु नहीं है। जैसे "तू" आभ्यन्तर वस्तु ही नही है वैसे "वह भी बाह्य वस्तु ही नहीं है। "वह का ग्रहण बिना" "तू" के असम्भव है। अत "वह तू" का नित्य सम्बन्ध है। दोनों समानाधिकरण है। दोनो एक है। "तू" का वह अर्थ अप्रासगिक है जो किसी नश्वर और क्षणिक वस्तु जैसे शरीर आदि का बोधक है। उसका वह अर्थ यहाँ अपेक्षित है जो सदा विद्यमान बोध-स्वरूप साक्षी वस्तु है। इसी प्रकार "वह" का भी नश्वरतापरक अर्थ अप्रासगिक है। उसका वह अर्थ यहाँ ग्राह्य है जो सकल प्रपच के सारभूत तत्व को बतलाता है। इस प्रकार जहत्-अजहत् लक्षणा द्वारा तत्वमसि का अर्थ निकलता है कि प्रत्येक की आत्मा और परोक्ष सत् (ब्रह्म) दोनो मे अभेद है। आत्मा ही सत् है और सत् ही आत्मा है। उपनिषद् वाक्यों मे से अधिकांश इसी अभेद-तत्व का प्रतिपादन करते हैं। पर बहुत-से ऐसे वाक्य भी हैं जो भेद और वैपुल्य की चर्चा करते हैं। ऐसी स्थिति में किन वाक्यो को प्रधान और किन्हे गौण माना जाय? प्रमाण तो दोनों है।

अद्वैत ने वैपुल्यवाद का अपने सिद्धान्त से सामञ्जस्य करने के लिए एक नए ढग और वाद की अवतारणा की है। इस ढग का नाम हम आलकारिक शैली कह सकते हैं। इस सिद्धान्त को "द्वयवाद" के नाम से पुकारा जाता है। आत्मा या परमार्थ सत् अद्वितीय तत्व है। वह कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता, द्रष्टा कुछ नही है। पर ऐसा लगता है कि वह कर्त्ता, भोक्ता आदि है। जैसे ससार

जानने के लिए किसी सिद्धान्त की आवश्यकता पडती है। विश्लेषण तात्पर्य नही देता। कुछ ऐसे कारण या हेतु होने चाहिए जिनके आधार पर हम सभी श्रुति-वाक्यो का तात्पर्य जान सकें। अद्वैत श्रुति-तात्पर्य जानने के लिए छ हेतु देता है। (१) उपक्रम और उपसहार (२) अभ्यास या पुनरुक्ति (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद (६) उपपत्ति। उदाहरण के लिए छान्दोग्य उपनिषद् का छठाँ प्रपाठक लीजिए। इस प्रपाठक का क्या तात्पर्य है ? पहले हम यह देखते हैं कि इसके आरभ और अन्त के वाक्य का क्या अर्थ है। यदि दोनो जगह एक ही बात है तो सभवत वही इस अध्याय का सार है। हम जानते हैं कि उक्त अध्याय के आदि और अन्त मे दोनो जगह अद्वितीय सत् का उपाख्यान है। इतना जान लेने पर हम फिर देखते हैं कि सपूर्ण प्रपाठक मे बार बार किस सिद्धान्त की पुनरुक्ति हुई है ? अद्वैत सत् का ही बार-बार प्रपाठक भर मे वर्णन मिलता है। इस प्रकार अभ्यास द्वारा भी ज्ञात होता है कि अद्वैतवाद श्रुतिसार है। अपूर्वता उपयुक्त प्रकरण में प्रतिपाद्य अद्वैत वस्तु का दूसरे प्रमाणो द्वारा न ज्ञात होना है। अद्वैत श्रुति-भिन्न अन्य प्रमाणो से अवगत नही हो सकता है। हाँ, श्रुति का सहारा लेकर युक्ति और अनुभूति उसका ज्ञान अवश्य प्राप्त कर सकती हैं। श्रुति की यह अपूर्वता उसका सार है। फल से भी सार जाना जाता है। उसी प्रकरण मे मिलता है कि अद्वैत सत् के ज्ञान का फल स्वराज्य, स्वास्थ्य या स्वातन्त्र्य है। यह फल भी अद्वैत सिद्धान्त का बोधक है क्योकि जब तक अद्वैत-ज्ञान रहता है तब तक भय बना रहता है और भय के रहते अभय नही हो सकता जो स्वास्थ्य, स्वातन्त्र्य या स्वराज्य का सारभूत अग है। अर्थवाद का अर्थ प्रासगिक अर्थ की प्रशसा और अप्रासगिक की निन्दा है। उक्त प्रकरण में अद्वैत सत् की प्रशसा और नानात्व की निन्दा की गई है। इससे स्पष्ट है कि श्रुति का तात्पर्य अद्वैत है। फिर अद्वैत सत् की सिद्धि के लिए मृत्तिका आदि दृष्टान्तो द्वारा उक्त प्रकरण मे उपपत्तियाँ भी प्रचुर दी गई हैं। इस कारण भी श्रुति का तात्पर्य प्रस्तुत प्रकरण मे अद्वैतवाद है। इस प्रकार इन छ हेतुओ से उपनिषद् के अध्यायो का तात्पर्य जानने के बाद फिर इन्ही हेतुओ द्वारा उपनिषदो का व्यस्त और समस्त रूप मे तात्पर्य जाना जाता है। किसी भी अनुच्छेद, अध्याय या ग्रन्थ का सार और तात्पर्य जानने के लिए ये छ हेतु पर्याप्त हैं। अद्वैत दर्शन वेदान्त-वाक्यो के तात्पर्य के लिए उन वाक्यों के विश्लेषणो को इन्ही हेतुओ से समन्वित करता है। उपनिषद्-वाक्यो पर विचार करना, उनका युक्तियुक्त विश्लेषण तथा समन्वय

करना, इस दर्शन की विशिष्ट प्रणाली है। अन्यत्र भारतीय तथा अभारतीय दर्शन में ऐसी प्रणाली का दर्शन दुर्लभ है।

५ समीक्षात्मक निष्कर्ष

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि अद्वैत दर्शन की प्रणाली में अनुभव यौक्तिक है और युक्ति आनुभविक है। यहां तक काण्टकृत अनुभव और युक्ति का समन्वय अद्वैत दर्शन को मान्य है। पर अद्वैत इनके अतिरिक्त प्रातिभ ज्ञान को भी मानता है। काण्ट में इसका अभाव है। इसी को अद्वैत श्रुति कहता है, यदि वह केवल पठित या श्रुत है तो और जब वह अनुभूत हो जाती है तो फिर उसे वह अपरोक्षानुभूति कहता है। अनुभव और युक्ति को श्रुति-सम्मत होना चाहिए और श्रुति को आनुभविक तथा यौक्तिक। यदि अनुभव और युक्ति श्रुतिसम्मत नहीं है तो कोई विशेष क्षति नहीं है। पर श्रुति को अवश्य अनुभव तथा युक्ति के अनुकूल होना चाहिए, अन्यथा अनर्थ की आशंका होती है। अद्वैत प्रणाली का मेरुदण्ड युक्ति तथा अनुभव है। अनुभव-हीन युक्ति सावद्य है और युक्तिहीन अनुभव अन्धविश्वास है। इन्हीं दोनों की निरवद्यता पर अद्वैत की मनन विधि आधारित है। श्रवण, मनन और निदि-ध्यासन अद्वैत प्रणाली के तीन क्रमिक सोपान कहे जाते हैं। श्रुति का उक्त विश्लेषण और समन्वय श्रवण है। अनुभव का विश्लेषण और श्रुति का निग्रह मनन है। निदिध्यासन कोई साधनात्मक क्रिया नहीं है। वह निरन्तर मनन का ही दूसरा नाम है। या यों कहिए कि वह परिपक्व मनन है। यही कारण है कि शंकराचार्य मनन तथा निदिध्यासन को श्रवण की भांति अवगति-प्रधान मानते हैं—मनन निदिध्यासनयोरपि श्रवणवद् अवगत्यर्थत्वात्।[१] यही ज्ञान-मार्ग है। कुछ वेदान्ती ज्ञान और कर्म के समुच्चय को मानते हैं और कुछ दोनों में परस्पर विरोध देखते हैं। समुच्चयवादियों में भी कुछ लोग ज्ञान तथा कर्म का सहसमुच्चय मानते हैं। उनके अनुसार कर्म और ज्ञान का एक साथ प्रयोग और व्यवहार हो सकता है। कुछ लोग ज्ञान और कर्म के सह-समुच्चय के विरोधी होते हुए भी दोनों के क्रमसमुच्चय में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण शुद्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है। सत्वशुद्धि के बिना ज्ञान दुर्लभ है। इस प्रकार वे ग्रीक दर्शन के आचार्य सुकरात और अफलातून की भांति नीति को दर्शन

[१] शारीरक भाष्य १। १। ४

का अंगभूत अनिवार्य साधन समझते हैं। कहना नही होगा कि अद्वैत के अधिकांश आचार्य कर्म और ज्ञान के क्रमसमुच्चय को मानते हैं। कर्म की स्थिति मे ज्ञान नही होता और ज्ञान की स्थिति मे कर्म असंभव है। इस प्रकार यद्यपि वे सभी विशुद्ध ज्ञानमार्ग को मानते हैं तथापि उनका ज्ञानमार्ग विशुद्ध कर्ममार्ग का फल है। पर कुछ अद्वैत वेदान्ती ज्ञान और कर्म के क्रमसमुच्चय के भी पक्ष में नही है, सहसमुच्चय की बात तो दूर है। उनका कहना है कि बिना सत्व शुद्धि के भी ज्ञानमार्ग सुलभ है। विनाऽपि-सत्वशुद्धिं ज्ञानेनैव मोक्ष सिद्धत्येव सत्यम्।[1] मोक्ष का यहां अभिप्राय अक्षरशः स्वास्थ्य ही लेना चाहिए। कर्म से जीव बन्धन मे पडता है। विद्या से ही वह बन्धन-मुक्त होता है। अत पारदर्शी यति कर्म नही करते हैं।

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥

इस सिद्धान्त को हम शुद्ध ज्ञानमार्ग कह सकते हैं। अद्वैत-भिन्न वेदान्तियो ने ज्ञान तथा कर्म के सह-समुच्चय का समर्थन किया है पर अद्वैत ने सदा कर्म को ज्ञानमार्ग मे व्यर्थ बतलाया है, दूसरे शब्दो मे नीतिशास्त्र को ज्ञानमीमांसा और अध्यात्मशास्त्र के लिए अनुपयुक्त बतलाया है। इसके विपरीत अधिकांश आचार्यो ने नीतिशास्त्र को ज्ञानमार्ग का आवश्यक अंग माना है। जैसे युक्ति ज्ञानमार्ग का मेरुदण्ड है वैसे उनके मत से नीति भी ज्ञानमार्ग का मेरुदण्ड हैं। वे युक्ति को नैतिक और नीति को यौक्तिक मानते हैं। पर इस विषय पर हम विशेष विचार यहां नही करना चाहते। यहां हमारा लक्ष्य ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन है। इसमे नीति की उपयोगिता और अनुपयोगिता दोनो मान्य है। अच्छा हो यदि हम ज्ञानमार्ग को समझने के लिए नीति को दूर रखें। नीति और ज्ञान का प्रश्न एक दूसरी ही जटिल समस्या है। उसका विवेचन इस समय विज्ञ पाठको पर छोडकर हम यहां शुद्ध ज्ञानमार्ग वाली अद्वैत की प्रणाली का प्रतिपादन करना चाहेंगे।

---

[1] शंकरकृत सनत्सुजातीय भाष्य २।६ और गीताभाष्य ३।१७। तस्मात् गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणा आत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद् दर्शयितुम् शक्यः।

[2]

८

आत्मा का स्वभाव

सभी मनुष्यों को यह अनुभव होता है कि "मैं हूं।" कोई यह अनुभव नहीं करता कि "मैं नहीं हूं[1]।" इस "मैं हूं" का ही दूसरा नाम आत्मा है। अपने विकास में सभी रत रहते हैं। अपने से अधिक कोई दूसरे को प्यार नहीं करता। अत आत्मा का लाभ ही सबसे बड़ा सुख है। आत्मलाभ से बढकर ससार में कुछ नहीं है। पर इस आत्मा का स्वभाव सहज में जाना नहीं जा सकता।

१. कितने पुत्र को ही आत्मा मानते हैं। कारण, पुत्र से ही प्रबल प्रेम होता है। पुत्र के पुष्ट रहने पर लोग अपने को पुष्ट मानते हैं और पुत्र के नष्ट होने पर अपने को नष्ट समझते हैं, पुत्र के लिए नाना कष्ट सहते हैं, स्वय न खाकर पुत्र को खिलाते हैं। जैसे एक दीप से दूसरा दीप जलता है वैसे पिता से पुत्र होता है। दूसरे दीप में पहले दीप की ही आभा रहती है। पुत्र में पिता की ही आत्मा रहती है। पिता के गुण पुत्र में आ जाते हैं। पुत्र पिता का सर्वत प्रतिरूप होता है। धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि जिस दिन या घडी पुत्र का जन्म होता है उसी समय पिता की मृत्यु हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि पिता की आत्मा पुत्र में निवास करती है। श्रुति भी कहती है कि पुत्र ही आत्मा है—'आत्मा वै पुत्र नामासि[2]।' इस प्रकार अनुभव, युक्ति, स्मृति तथा श्रुति से सिद्ध है कि पुत्र आत्मा है।

पर यह सिद्धान्त ठीक नहीं जंचता। प्रीतिमात्र के कारण पुत्र आत्मा नहीं हो सकता। प्रीति तो क्षेत्र, पात्र, धन आदि में भी देखी जाती है। पर कोई उनको आत्मा नहीं समझता। यह कहना भी समीचीन नहीं है कि लोग अपने

---

[1] सर्वो हि आत्मास्तित्व प्रत्येति, न नाहमस्मीति। शकर, शारीरक भाष्य १ १ १

[2] कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् २. ११.

से अधिक पुत्र को प्रेम करते हैं। अपने शरीर से प्रेम पुत्र-प्रेम से अधिक होता है। यदि घर मे आग लग जाती है, तो लोग पुत्र को छोड कर स्वय अपनी जान लेकर भागते हैं। अपनी रक्षा के लिये कितनो ने पुत्रों को वेच डाला है या मार डाला है। पिता-पुत्र मे गुण-सादृश्य भी नही होता है। वक्र पिता के वक्र पुत्र नहीं होता। अन्ध पिता का अन्ध पुत्र हो, यह कोई नियम नही है। दयालु पिना के निर्दय पुत्र भी देखे गए हैं। अतएव जो भी युक्तियां सिद्ध करती हैं कि पुत्र आत्मा है वे सभी आभास मात्र हैं। जिस प्रकार गृहादि पर पिता का स्वामित्व रहता है उसी प्रकार पुत्र पर भी। इसी स्वामित्व के अर्थ मे लक्षणा द्वारा श्रुति, स्मृति तथा लोकवुद्धि पुत्र को आत्मा शब्द से पुकारती है। पुत्र आत्मा है, इस वाक्य मे आत्मा शब्द का वाच्यार्थ वाधित होता है। अत इसका लक्ष्यार्थ यहाँ अभीष्ट है। आत्मा का अर्थ यहाँ आत्मीय या आत्मा का अधिकार है।

२. भौतिकवादी शरीर को ही आत्मा मानते हैं क्योकि शरीर के ही लिये "मैं" शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रत्यक्ष द्वारा शरीर को ही सभी आत्मा समझते हैं। कोई शरीर को कष्ट नही देना चाहता। शरीर-सुख के ही लिये सभी प्रयत्न किये जाते हैं। इससे सिद्ध है कि शरीर ही आत्मा है।

पर शरीर के आत्मा होने मे अनेक दूषण हैं। शरीर स्वय जड है। इसमे स्वत. गति नही होती। इन्द्रियो के चलाने पर यह चलता है। यह इन्द्रियो का आश्रय है जैसे गृहस्थो का आश्रय घर होता है। और शरीर नाना रूप धारण करता है। यह विकारवान् है। इसकी वाल्य, यौवन तथा वार्धक्य अवस्थाएँ होती हैं। "मैं हूँ" यह प्रतीति सदा समरूप या एकरूप रहती है। इसमे कभी विकार नही होता। अत विकारवान् शरीर आत्मा नही हो सकता है। इसके अतिरिक्त शरीर अशुद्ध, अनित्य तथा विनाशी है। आत्मा तो शुद्ध, नित्य तथा अविनाशी सुनी जाती है। शरीर दृश्य है। आत्मा द्रष्टा है। दृश्य कैसे द्रष्टा हो सकता है? अत शरीर आत्मा नही है।

३ दूसरे भौतिकवादी सभी इन्द्रियो के सघात को, या प्रत्येक इन्द्रिय को आत्मा मानते हैं। कारण, इन्द्रियों के विकार से लोग अपने को विकारवान् समझते हैं। अनुभव मे देखा जाता है कि लोग अपने को वधिर, मूक तथा अन्ध समझ लेते हैं जब उनके कान, वाणी तथा नेत्र क्रमश नष्ट हो जाते हैं। आत्मा का लक्षण ज्ञान कहा जाता है। सारा ज्ञान इन्द्रियों से ही मिलता है। जिसकी सभी इन्द्रियां विकल रहती हैं उसे वाह्य जगत् का कुछ ज्ञान नही हो सकता। अतएव इन्द्रियां ही चेतना हैं।

किन्तु ये दोनो मत ठीक नही हैं। इन्द्रियाँ करण हैं न कि कर्त्ता। 'मैं हूँ' मे कर्तृत्व का सकेत है। आत्मा इन्द्रियो को प्रेरणा देती है। इन्द्रियाँ नाना रूप धारण करती हैं। आत्मा एकरूप रहती है। प्रत्येक इन्द्रिय यदि आत्मा है तो इसका मतलब है कि एक शरीर मे कई आत्माएँ हैं। पर ऐसा देखा नही जाता। सर्वत्र शरीर मे एक ही आत्मा का भान होता है। दूसरे यदि प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा है तो उसके नष्ट होने पर आत्मा भी नष्ट होना चाहिए। पर ऐसा अनुभव मे नही आता। अंधे लोग भी 'मैं हूँ' का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार वधिर आदि भी 'मैं हूँ' का अनुभव करते हैं। जब इन्द्रिय-विनाश होने पर भी आत्मा का अनुभव सम्भव है तो सिद्ध है कि इन्द्रियाँ व्यस्त या समस्त रूप मे आत्मा नही हैं।

४ इन्द्रियो को सचेष्ट करने वाला प्राण है। वह स्वप्न, जाग्रत तथा सुप्ति सभी अवस्थाओ मे रहता है। उसके न रहने पर शरीर मृतक कहा जाता है। प्राण ही जीवन है, चेतना है। क्षुधा, तृष्णा आदि प्राण की आवश्यकताएँ हैं। इन आवश्यकताओ की तृप्ति होने पर सुख और अतृप्ति होने पर दु ख होता है। इससे कुछ लोगो के अनुसार प्राण ही आत्मा है। यह प्राण पांच प्रकार का होता है, प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। ये पाँचो प्राण वस्तुत शरीर के अन्दर विभिन्न भागो मे स्थित वायु के नाम हैं। जैसे मशक के अन्दर हवा रहती है वैसे शरीर के अन्दर प्राणवायु। यह जड है। इसके व्यापार भौतिक है। यह स्वय अपना हित या अहित नही जानता। सुप्ति मे प्राण का ज्ञान भी नही होता है। अत क्षुधा, तृष्णा आदि से पीडित प्राण आत्मा न होकर आत्मीय है। प्राण अनेक हैं। आत्मा एक है। आत्मा जानती है। ज्ञान उसका लक्षण है। प्राण से ज्ञान नही होता, कर्म होता है। 'मैं हूँ' से ज्ञाता का बोध होता है। इसलिए प्राण आत्मा नहीं हो सकता।

५ अत प्राय लोग मन को आत्मा मानते हैं। कारण, मन ही सब का ज्ञाता है। वही सकल्प, विकल्प तथा चिन्तन करता है। वही इन्द्रियो को चलाने वाला है। यदि वह विकृत हो जाता है तो इन्द्रियो के स्वस्थ रहने पर भी प्रत्यक्ष नही होता है। अत प्रत्यक्ष का कर्ता या ज्ञाता मन ही है न कि इन्द्रियाँ। शरीर पर भी शासन मन ही करता है। अधिकाश लोग मनुष्य के अन्दर केवल शरीर और मन इन दो तत्वों को ही मानते हैं। मन को द्रष्टा, कर्त्ता तथा भोक्ता कहा जाता है तथा शरीर को दृश्य, कार्य और भोग्य। मन को चेतन और शरीर को अचेतन समझा जाता है।

पर मन को आत्मा मानने मे आपत्तियाँ हैं। मन को चेतन नही कहा जा सकता। वह कर्त्ता नही, करण है। पागलो का मन रुग्ण होता है। पर आत्मा रुग्ण नही होती। मन चचल है। कभी-कभी लोग कहते हैं हमारा मन अन्यत्र चला गया था। यहाँ उनका अभिप्राय है कि मन आत्मा से पृथक् है। आत्मा उनमे वही थी जहाँ पर वे थे। पर मन अन्यत्र चला गया था। इससे स्पष्ट है कि मन केवल आत्मा का करण है। भारतीय दर्शन मे इसीलिये मन को एक इन्द्रिय माना गया है। वह आन्तरिक इन्द्रिय है। बाह्य इन्द्रियो के प्रदत्तो को आत्मा उनके द्वारा प्रयोग करती है। मन स्वय कर्त्ता नही है। जब आत्मा उसको कुछ करने को विवश करती है, तभी वह कार्य करता है। मन की अनेक अवस्थाएँ है, कभी वह उन्नत है तो कभी कच्चा, कभी स्वस्थ है तो कभी रुग्ण, कभी प्रसन्न है तो कभी अप्रसन्न। अनेक अवस्थावान् होने के कारण वह विकारवान् है। फिर सुप्ति मे मन का कही पता नहीं चलता है। सकल्प, विकल्प तथा चितन उसके कार्य हैं। इन्ही कार्यो द्वारा उसका अस्तित्व है। ये कार्य सुषुप्ति मे लुप्त रहते हैं। अतएव मन भी सुषुप्ति में लुप्त रहता है। मूर्च्छा मे मन का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। आत्मा का ऐसा स्वभाव नही देखा जाता। वह सदा समरूप रहती है। वह कभी कहीं आती जाती नही है। अत मन आत्मा नही है।

६. बुद्धिवादी बुद्धि को ही आत्मा मानते हैं। सामान्यत. पाश्चात्य दर्शन मे बुद्धि मन का ही व्यापार-विशेष है। पर बुद्धिवादियो का कहना है कि बुद्धि विचार-प्रधान वस्तु है और मन सकल्प-विकल्पवान्। मन इसलिए पाश्चात्य इच्छा-शक्ति का बोध देता है और बुद्धि विचार का।

बुद्धि को ही ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता माना जाता है। मन स्वय अचेतन हैं। बुद्धि को चित् समझा जाता है। समझ (अडरस्टैंडिंग) और सूझ या प्रातिभज्ञान (इंट्यूइशन) इसके दो व्यापार होते हैं। अहकार इसका धर्म है। विज्ञान या ज्ञान इसकी इतर सज्ञा होती है। जिस वस्तु को सत् माना जाय उसका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। जिस वस्तु का ज्ञान सम्भव नही है, वह वस्तु सत् नही कही जा सकती। सत्ता बिना ज्ञान-सबध के असम्भव है। सत्ता का [illegible] ज्ञाता से ही जाना जाता है। जब ज्ञान होता है तो ज्ञेय वस्तु का सद्भाव होता है। जब ज्ञान नही होता तो वस्तु का सद्भाव भी नही होता। इससे ज्ञान और सत् का सहोपलम्भ सिद्ध होता है। यदि कोई कहे 'क' है पर जाना नही गया, तो उसकी बात असगत है। बिना लोचन के रूप नहीं हो सकता।

बिना ज्ञाता के ज्ञेय नहीं हो सकता। अभाव या असत् यदि ज्ञेय है तो उसका भी ज्ञाता होना चाहिए। बिना ज्ञाता के किसी भी वस्तु का ज्ञेयत्व असम्भव है। अत वस्तुओ की सत्ता-सिद्धि मे अनिवार्य आधार ज्ञाता है। यही ज्ञाता आत्मा है। इसका स्वरूप सदा सोचना या विचारना है। यह सदा कुछ न कुछ जानती रहती है।

पर यह मत भी ठीक नही है। सुषुप्ति मे बुद्धि नही रहती। कारण, उस अवस्था मे किसी को कुछ ज्ञान नहीं होता है। सोते समय मनुष्य कुछ नही जानता। जाग्रत अवस्था मे भी मनुष्य प्रतिपल ज्ञाता नही रहता। वह कभी-कभी अपने को अज्ञ, अज्ञानी, मूर्ख आदि समझता है। बुद्धि नाना रूप वाली देखी जाती है। ज्ञातृत्व अनेक प्रकार का है। हम किसी वस्तु को एक रूप मे जानते हैं। दूसरा उसको दूसरे रूप मे जानता है, तीसरा तीसरे रूप मे। और इसी प्रकार अनेक लोग उस वस्तु को अनेक रूप मे जानते है। एक व्यक्ति भी विभिन्न ममय मे एक वस्तु को विभिन्न रूप से जानने के कारण विविध प्रकार से ज्ञाना होता है। कभी वह सशयालु है, तो कभी निश्चयालु। पर आत्मा नाना रूप नही धारण करती है। उसका नाम ही आत्मा (Unity) है। वह सदा एक रूप रहती है।[१] बुद्धि विकृत और भ्रष्ट भी हो जाती है। कभी उसका विकास होता है, तो कभी ह्रास। सभी व्यक्तियो की बुद्धि एक प्रकार की नही होती। पर आत्मा का भाव "मैं हूँ" सभी के अनुभव मे एक प्रकार का ही होता है। ज्ञाता और ज्ञेय का सहोपलम्भ अवश्य सत्य है। पर यदि बिना ज्ञाता के ज्ञेय नही हो सकता, तो बिना ज्ञेय के ज्ञाता भी नही हो सकता। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय दो तत्त्वो का नित्य-सद्भाव मानना पडेगा। पर सुप्ति मे ये दोनो नहीं रहते। उस समय तो केवल अज्ञान ही रहता है। सोने के बाद जब मनुष्य जगता है, तो कहता भी है, कि मैं खूब सोया। कुछ ज्ञान नही रहा कि क्या इस बीच मे हो गया। अतएव बुद्धि अनित्य है। बुद्धि आत्मा नही हो सकती। आत्मा नित्य है, क्योकि 'मैं हूँ' का भाव नित्य है। सुप्ति मे भी यह भाव उपस्थित रहता है, भले ही उसका ज्ञान न रहे। तभी तो किसी के पुकारने पर तुरन्त व्यक्ति जाग पडता है।

---

[१] देखिए आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति—

यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

शङ्कर, कठोपनिषद्भाष्य २।१।१ मे उद्धृत। लिङ्गपुराण १।७०।९६

७. सुषुप्ति में अज्ञान रहने के कारण कुछ लोग अज्ञान को ही आत्मा मानते हैं। इस अज्ञान को ही आनन्दमय कहा जाता है, क्योंकि यह आनन्द से बना हुआ है। प्रगाढ़ सुषुप्ति में किसी को दुःख का अनुभव नहीं होता। जब तक मनुष्य जागता है या स्वप्न देखता है, तब तक उसको दुःख भोगना पड़ता है। पर दुःखी से दुःखी कोई क्यों न हो, उसे सुषुप्ति में दुःख नहीं मिलता। कारण, दुःख का अनुभव करने वाली बुद्धि उस समय नष्ट हो जाती है। अज्ञान के कारण आनन्द मिलता है। जाग्रत और स्वप्न में भी लोग अपने को अज्ञ समझते हैं। अतः अज्ञान आत्मा है।

पर इस अज्ञान को आत्मा मानने में महान् आपत्तियाँ हैं। [illegible] नहीं रहता। यदि मनुष्य अज्ञ है, तो वह विज्ञ भी है। इसमें [illegible] कहीं अधिक मात्रा में है। फिर कोई ज्ञान के अभाव में कैसे [illegible] मैं अज्ञ हूँ? सुख से मैं सोया और कुछ नहीं जानता हूँ—[illegible] अज्ञान भी प्रबुद्ध होने पर जाग्रत अवस्था का ज्ञान है। [illegible] नहीं होता। उल्टे दुःख और कष्ट देखे जाते हैं। [illegible] उपलब्ध होता है। भ्रम, संशय आदि में अज्ञान के कारण दुःख होता है। जब हम किसी वस्तु को खूब समझते हैं, तो आनन्द-विभोर हो जाते हैं।

८. अतः जहाँ कहीं आनन्द होगा वहाँ अवश्य ज्ञान होगा। सुषुप्ति में आनन्द अवश्य मिलता है। पर उसका कारण अज्ञान नहीं है, क्योंकि अज्ञान से आनन्द-उपलब्धि अनुभव में नहीं आती। इसलिए सुषुप्ति का आनन्द भी प्रज्ञान-घन से निष्पन्न होना चाहिए। इसी कारण कुमारिल का कहना है कि प्रज्ञानघन आनन्दमय आत्मा है। आत्मा केवल चित् नहीं है। वह कुछ जड़ है और कुछ चित्। उसमें कुछ ज्ञान है और कुछ अज्ञान। जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति—सभी अवस्थाओं में ज्ञानाज्ञान ही आत्मा है।

परन्तु यह बहुत बड़ा व्याघात है। जैसे प्रकाश और अन्धकार का युगपत् संयोग, समाश्रय या समानाधिकरण्य असम्भव है, वैसे ज्ञान और अज्ञान का भी। इन दोनों का परस्पर विरोध है।

९. सोते समय न तो ज्ञान रहता है न अज्ञान, न बुद्धि रहती है न बुद्धि के गुण। उस समय केवल शून्यता का ही भान होता है। सोने के ठीक बाद जगने पर यही अनुभव होता है कि सोते समय कुछ नहीं था। यहाँ तक कि 'मैं हूँ' यह भी ज्ञात नहीं था। इसलिए शून्यवादियों का कहना है कि शून्य ही

आत्मा है। श्रुति भी यही कहती है—'असदेवेदमग्र आसीत्'।[1] असत् ही सब से पहले था। घट उत्पन्न होने के पूर्व असत् ही था। उत्पन्न होने पर उसका सद्भाव होता है। पर यह सद्भाव समझा नही जा सकता। उसे सत् नही कहा जा सकता,क्योकि उसका नाश भी प्रतिक्षण होता है। उसे असत् भी नही कहा जा सकता क्योकि वह दृश्यमान है। फिर वह सत् और असत् दोनो भी नही हो सकता, क्योकि यह व्याघात है। अब यदि कहा जाय कि वह न सत् है और न असत् तो भी कठिन समस्या है, क्योकि ऐसी वस्तु सोची ही नही जा सकती, जो न तो सत् हो न असत्। अस्तु, वह सदसद् भिन्न भी नही हो सकता। इससे स्पष्ट है कि इन चारो कोटियो से मुक्त वह शून्यता है। प्रारम्भ मे सभी असत् रहते हैं। अन्त भी सबका असत् से होता है। और यह विल्कुल न्यायसगत है कि जो आदि और अन्त मे नहीं है, वह मध्य मे भी नही है।

जो आदि और अन्त मे रहता है वही मध्य मे भी होता हो। असत् आदि और अन्त मे है। अत मध्य मे भी वही रहता है। असत् ही सत् को उत्पन्न करता है। दृश्यमान सत् का आधार असत् ही है। सारा ससार दृश्य है। अत असत् उसका आधार है।

लेकिन शून्यवाद सभी प्रमाणो के विरुद्ध है। किसी भी प्रमाण से इसका समर्थन नही किया जा सकता। प्रत्यक्ष से सदा सत् का ही बोध होता है। अनुमान से भी सत् ही ज्ञान होता है। यदि तक मे कभी किसी वस्तु का असद्भाव ज्ञात होता है, तो वह किसी के सद्भाव के आधार पर ही जाना जाता है। किसी विधायक सत्य का अवलब करके ही प्रतिषेधक असत्य का ज्ञान होता है। असत् मे सत् की उत्पत्ति न सुनी जाती ह, न देखी जाती है। तर्कत भी यही सिद्ध होता है कि सत् असत् से उत्पन्न नहीं हो सकता। श्रुति भी यह घोषित करती है—"कथमसत सज्जायेत[2]।" कैसे असत् से सत् उत्पन्न हो सकता है? यदि ऐसा होने लगे, तो फिर नरश्रृ ग अथवा आकाशकुसुम से कोई वस्तु उत्पन्न होने लगे। कार्य-कारण का भाव ही नष्ट हो जाय। तिल से मनुष्य होने लगे और मनुष्य से तेल होने लगे। जो कहा जाता है,

---

[1] छान्दोग्य उपनिषद् ३. १९ १.

[2] वही ६. ७. १

कि घट पहले असत् था, बाद मे सत् होता है, वह ठीक नही है। घट मृत्तिका मे उत्पन्न होता है। वह असत् मे उत्पन्न नही होता। मृत्तिका मे घट अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहता है। अथवा मृत्तिका मे घट रूप धारण करने की शक्ति रहती है। यदि असत् से घट होने लगे, तो फिर जल या अग्नि से भी घट उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार वस्तुओ की प्रतिष्ठा असत् नही हो सकती। सभी वस्तुएँ सन्मूलक हैं, सत्प्रतिष्ठित हैं और अन्त में सत् मे विलीन होती हैं।

जो कहा जाता है कि सुषुप्ति मे शून्य रहता है, वह भी ठीक नही है। सुषुप्ति मे चैतन्य विद्यमान रहता है। लोग उस अवस्था मे द्रष्टा का प्रत्याख्यान करते हैं। जब कहा जाता है कि मैं सोते समय कुछ नही जानता था, तो इसका तात्पर्य यह है कि उस समय मुझे ज्ञेयो का अभाव ज्ञात था। अतः उस समय भी चैतन्य रहता है। केवल दृष्ट वस्तुओ का ही आभाव रहता है, न कि दृष्टि का। ज्ञान चैतन्य का स्वभाव है। यह आत्मभूत है, न कि आगन्तुक।[1] जाग्रत, स्वप्न और सौषुप्तिक विषय आगन्तुक हैं। अतः उनकी सिद्धि या असिद्धि को प्रमाण की अपेक्षा पडती है। पर कोई आत्मभूत को सिद्ध नही कर सकता। वह स्वयसिद्ध या स्वत सिद्ध है। प्रमाण की प्रमाणिकता की सिद्धि उससे होती है। वह सबका आश्रय है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओ मे उसका व्यभिचार नही होता। व्यभिचार होता है उनके ज्ञेय विषयो का। यदि चैतन्य का व्यभिचार हो तो सुप्ति के पूर्व और पश्चात अनुभवो का सम्बन्ध असम्भव हो जाय। पर ऐसा नही होता। सुप्ति के पूर्व अनुभवो को लोग सुप्ति के पश्चात् अनुभवों से सम्बन्धित करते हैं। स्मृति भी चैतन्य के व्यभिचार मे असम्भव हो जायगी। अतः सुप्ति मे चैतन्य के व्यभिचार होने से महान् अनथ हो जाता है। अनुभवो की एकता, स्मृति की सिद्धि, व्यक्तित्व की एकता आदि से सिद्ध है कि सुप्ति मे चैतन्य का व्यभिचार नही होता। फिर लोगो का अनुभव है कि मैं सुप्ति में सुखपूर्वक था। इस वाक्य का कुछ अर्थ नही होगा, यदि सुप्ति मे चैतन्य की सत्ता न मानी जाय। वस्तुत चैतन्य उस अवस्था मे आनन्द का भोग करता है, उस विषय का ज्ञान नही होता। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वय ज्ञान का भी अभाव वहाँ रहता है। आँख यदि कुछ न देखे, तो इसका अभाव

---

[1] न हि आत्मा आगन्तुकः, स्वयसिद्धत्वात्। शंकर, शारीरक भाष्य २ ३. ७.

सिद्ध नही होता। इस प्रकार ज्ञान मे यदि कोई विषय न हो, तो ज्ञान का अभाव सिद्ध नही होता। कितने लोग सुप्ति मे तस्कर-बाधा से आक्रान्त रहते हैं। अपने नाम का भान तो प्रत्येक सोने वाले व्यक्ति को होता है। यदि चार व्यक्ति प्रगाढ निद्रा मे मग्न हो और उनमे से एक का नाम लेकर पुकारा जाए, तो देखा जाता है कि उक्त नाम वाला व्यक्ति ही उठता है। अन्य लोग सोते ही रहते है। इन तमाम प्रमाणो से सिद्ध है कि सुप्ति मे चैतन्य अवश्य विद्यमान रहता है। इसी को श्रुतियो ने प्राज्ञ कहा है। उसी मे सब दृष्ट वस्तुओ का विलयन होता है। वे उसमे अव्याकृत रूप मे समाविष्ट हो जाती हैं। उनका विनाश नही होता। जागने पर पुन उनका व्याकृत रूप हो जाता है।

यह चैतन्य जाग्रत और स्वप्न अवस्था मे भी रहता है। जाग्रत् मे इसे विश्व कहा जाता है। स्वप्न मे इसे तैजस कहा जाता है। तैजस और विश्व दोनो द्रव्य और ज्ञाता है। इस प्रकार चैतन्य को ही लोग अवस्था भेद से विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहते हैं। पर वस्तुत वह इनसे परे है। चैतन्य इनका आधार या सचालक है। इनका अपने से भिन्न अवस्था मे व्यभिचार होता है। पर साक्षात् चैतन्य का व्यभिचार किसी भी अवस्था मे नही होता। इसीलिए इसे तुरीय या चतुर्थ कहा जाता है। पर यह सापेक्ष शब्द है। इसका प्रयोजन केवल शुद्ध चैतन्य को प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व से पृथक समझने को है। यही तीनो अवस्थाओ का अव्यभिचारी, साक्षी, शुद्ध चैतन्य आत्मा है। इसे पुत्र, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, विज्ञान, अज्ञान, ज्ञानाज्ञान और शून्य से भिन्न समझना चाहिए। इस प्रकार चैतन्य न तो प्रमेय है और न शून्य। प्रमेय न होने के कारण वह पदार्थ, द्रव्य, गुण नही है। सारी वस्तुएँ प्रमेय हैं। केवल आत्मा ही अप्रमेय है। प्रमेय की सिद्धि आत्मा से ही होती है। पर आत्मा की सिद्धि प्रमेय से नही होती[1]। क्योकि आत्मा आत्मभूत साक्षी है, जबकि प्रमेय, आगन्तुक या व्यभिचारी है। इसलिए प्राय नेति नेति द्वारा आत्मा का स्वरूप वर्णन किया जाता है।[2] पर यहाँ यह न समझना चाहिए कि आत्मा यदि प्रमेय

---

[1] आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यति।

शकर, शारीरक भाष्य २ ३. ७.

[2] बृहदारण्यक उपनिषद् २. ३. ६

नहीं तो शून्य है। नेति, नेति या निषेध का आधार कोई विधि रहती है। वही विधि आत्मा है। नेति नेति से जिसका प्रत्याख्यान होता है, वह अनात्मा है और जिसका सद्भाव लक्ष्य होता है वह आत्मा है। इस प्रकार आत्मा का स्वभाव प्रमेय और शून्य दोनो से भिन्न है। आत्मवाद सर्वप्रमेयवाद (Pan-objectivism) और शून्यवाद (Nihilism) या अज्ञेयवाद (Agnosticism) दोनो भूलो को दूर करता है। शकर के शब्दो मे यदि आत्मा को कोई प्रमेय समझा जाय तो अध्यास की भूल होगी, आत्मभूत को आगन्तुक बनाया जायगा या केन्द्र को परिधि समझा जायगा।[1]

इसी आत्मा का सद्भाव सब को "मैं हूँ" इस प्रतीति से विदित होता है। यदि इस पर किसी को शका होती है, तो स्वय शङ्कालु ही आत्मा हो जाता है।[2] बिना शङ्कालु या सशयिता के शका या सशय अनुपपन्न होता है। अत॰ सशय सशयिता पर लागू नही हो सकता। इसीलिए कहा जाता है कि आत्मा अप्रत्याख्येय है। इसका प्रत्यख्यान या निराकरण नही किया जा सकता। इसकी सिद्धि सभी प्रमेयो की सिद्धि या असिद्धि मे निहित है। क्योंकि प्रमेय यदि सिद्ध और असिद्ध है तो पहले उनका ज्ञान होना चाहिए और यदि उनका ज्ञान है, तो आत्मा अवश्य है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का ही लक्षण है। अत॰ आत्मा को स्वत सिद्ध या स्वयसिद्ध माना जाता है। पर इसका अभिप्राय यह नही है कि आत्मा विज्ञान की मूलभूत स्वयसिद्धि की भाँति स्वयसिद्ध है। इन मूलभूत स्वयसिद्धियो का खण्डन सम्भव है। आत्मा के ही बल पर उनकी सिद्धि है। अत आत्मा उनसे भिन्न है। यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि आत्मा अद्वितीय है। ससार की कोई भी वस्तु आत्मा-सी नही है। आत्मा के ही द्वारा सबकी सिद्धि है। सभी वस्तुओ का आत्मा से ही ज्ञानसबन्ध है। अतएव आत्मा एक अनोखी वस्तु है। वस्तुत शब्द द्वारा इसका वर्णन तर्कत॰ सम्भव नही है, क्योंकि शब्द भी प्रमेय होते हैं। आत्मा को एक अनोखा आदि भी कहना समीचीन नही है। इसीलिए प्राय आत्मा को अद्वैत

---

[1] ए० सी० मुकर्जी, दी नेचर आव सेल्फ, इलाहाबाद, द्वितीय सस्करण, १९४३, पृष्ठ ११

[2] आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता, तस्यैव आत्मत्वात्।

शकर, शारीरक भाष्य १ १.४

ही कहा जाता है, जिससे यह समझा जाता है कि आत्मा यावत् पदार्थों (categories) की ग्राहिका (presupposition) है, पर इसका अभिप्राय यह नही कि आत्मा अज्ञात है या इसका ज्ञान असम्भव है। आत्मा स्वय ज्ञान है। इसी के बल पर सारी वस्तुओ का ज्ञान सम्भव होता है। यह न रहे तो कुछ नही जाना जा सकता। सभी वस्तुओ के ज्ञान के ही साथ आत्मा का ज्ञान हो जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि सभी मनुष्यो को आत्मा विषय-बोध द्वारा ही ज्ञात है। पर क्या विषयबोध से भिन्न भी आत्मा का ज्ञान हो सकता है? यदि आत्मा का स्वभाव ठीक समझा गया है, तो प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर यही होगा। कि आत्मा का ज्ञान विषयबोध पर निर्भर नहीं है। सुषुप्ति मे विषय के अभाव होने पर भी आत्मा का ज्ञान सभव है, यद्यपि वह अस्पष्ट है। इस आत्मबोध को विषयनिरपेक्ष तभी बनाया जा सकता है जब सारे प्रमेयो का निरोध कर दिया जाय। योगी जन निर्विकल्प समाधि मे ऐसे आत्मा का प्रत्यक्ष करते हैं। पर यहां योग का प्रश्न नहीं है। यहां तो आत्मा के स्वभाव का प्रश्न है। ऊपर की युक्ति से इतना स्पष्ट है कि आत्मा विषय-निरपेक्ष, अविषय या अप्रमेय है।

अभी तक के विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा का विचार विषयगत नही किया गया है। आत्मा विषयगत सत्ता नही है।[1] जिस वस्तु को सभी चाहते हैं, जिसके लिए सभी प्रयत्न किये जाते हैं और जिसका अनुभव अनिवार्यत प्रत्येक अनुभव मे सभी करते हैं, उसी को आत्मा कहा जाता है। चैतन्य या ज्ञान ही उसका सार है। इस ज्ञान का एक ओर सत् से तादात्म्य है, तो दूसरी ओर आनन्द से। अत सत्, चित् और आनन्द आत्मा के स्वरूप समझे गये हैं। पुत्र, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, विज्ञान और अज्ञान जितनी भी वैयक्तिक वस्तुए हैं, आत्मा उन से भिन्न सिद्ध की गई है। साथ ही यह दिखलाया गया है कि आत्मा पुत्र, देह, इन्द्रिय, प्राण, विज्ञान और अज्ञान पर आश्रित नही है। उल्टे पुत्रादि ही आत्मा पर अवलम्बित हैं। अत आत्मा को देह मे स्थित न समझना चाहिए। उल्टे देह को ही आत्मा मे स्थित मानना चाहिए। आत्मा एक अनोखी अद्वितीय सत्ता सिद्ध की गयी है। किसी व्यक्तिगत तथ्य या वस्तु से उसका तादात्म्य नही है। अत आत्मा निरपेक्ष सत् है। सभी वस्तुए सापेक्षसत हैं क्योंकि उनका मूल, प्रतिष्ठा और अन्त आत्मा मे है।

---

[1] अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धे।
शकर, शारीरक भाष्य, उपोद्घात।

छठी व्याख्या के अनुसार पुरुष ही अर्थ है और इस कारण पुरुष और पुरुषार्थ समानार्थक हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे अर्थ शब्द निरर्थक हो जाता है और पुरुष से ही पुरुषार्थ का अर्थ निकलने लगता है। किन्तु वास्तव मे अर्थ का प्रयोग निरर्थक नही है। अत इस व्याख्या मे भी दोष आ गया है।

सातवी व्याख्या मे पुरुष और अर्थ दोनो को स्वतन्त्र वस्तु मान लिया गया है और उनके सम्बन्ध को मात्र समुच्चय या सयोग समझा गया है। किन्तु वास्तव मे पुरुष और अर्थ एक दूसरे से स्वतन्त्र नही हैं और न हो सकते हैं। अत उनका सम्बन्ध न तो समुच्चय है और न सयोग।

आठवी व्याख्या मे पुरुष और अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य पदार्थ का सहारा लिया गया है। किन्तु पुरुष और अथ के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नही हो सकता है। तृतीय पदार्थ या तो पुरुष से सम्बन्धित है या अर्थ से। तृतीय पदार्थ तर्कत बहिष्कृत है। अत यह व्याख्या भी त्रुटिपूर्ण है।

अन्त मे नवी व्याख्या है जिसके अनुसार पुरुष का प्रिय विषय अर्थ है या अर्थ स्वय पुरुष को प्रेम करता है। इस व्याख्या मे पुरुष और अर्थ का सम्बन्ध प्रेम से किया गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि प्रेम पुरुष और अर्थ के सम्बन्ध को निर्धारित करता है। पुनश्च अर्थ पुरुष के लिए प्रियकर है और पुरुष अर्थ के लिए प्रियकर है। किन्तु अर्थ और पुरुष का सम्बन्ध प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध नही है क्योंकि इस सम्बन्ध से पुरुषार्थ की सापेक्षता तथा एकागिकता सिद्ध होती है और पुरुष और पुरुषार्थ के बीच प्रेम के अतिरिक्त ज्ञान और क्रिया का भी सम्बन्ध हैं। इन सम्बन्धो की व्याख्या प्रस्तुत व्याख्या से नही होती है। इस प्रकार यह व्याख्या भी अपूर्ण है।

अब प्रश्न है कि पुरुषार्थ की कैसे व्याख्या की जाय जिसके अनुसार पुरुषार्थ का सही अर्थ स्पष्ट हो जाय। ऊपर नौ व्याख्याओ के अतिरिक्त पुरुषार्थ की कोई दसवी व्याख्या नही की जा सकती है। इसलिए इन नौ व्याख्याओ मे ही देखना है कि कौन-सी व्याख्या पुरुषार्थ के प्रत्यय की व्याख्या पर्याप्त मात्रा मे करती है।

यदि नवो व्याख्याओ का पुनर्विचार किया जाय तो उनमे से छठी व्याख्या अपेक्षाकृत अन्य सभी-व्याख्याओ से अधिक प्रामाणिक सिद्ध होगी। इसके अनुसार पुरुष ही अर्थ है। ऊपर इस व्याख्या मे जो दोष दिखाए गए हैं वे वास्तव मे दोष नही है। पुरुष और अर्थ मे अभेद-सम्बन्ध है। यद्यपि पुरुष और अर्थ

के अपने-अपने सूक्ष्मतर अभिप्राय हैं जो उनके अवधारण की प्रक्रिया से समुत्पन्न होते हैं, तथापि पुरुष और अर्थ दोनो के भिन्न-भिन्न प्रसगो मे भिन्न-भिन्न अर्थ हैं जिनकी जानकारी प्राय सभी लोगो को है। किन्तु पुरुषार्थ की सत्य अवधारणा मे और पुरुष की सत्य अवधारणा मे दोनो एकार्थक हो जाते हैं। इस अभेद की पुष्टि निरुक्तकार यास्क और भाष्यकार शकराचार्य के मतो से तथा उपनिषदो मे और वेदो मे कहे गये पुरुष के लक्षण से होती है। यास्क ने अर्थ को ज्ञान से अभिन्न किया है और अर्थ की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं। अर्थोऽर्त्ते अरणस्थोऽवा[1]। अर्थात् अर्थ एक ओर गम्यता या गति है और दूसरी ओर वह आराम या निष्पन्दता है। पुनश्च शकराचार्य ने पुरुष की व्याख्या दो प्रकार से की है "पूरणात् पुरुष" और "पुरि शेते इति पुरुष"। पहली व्याख्या के अनुसार पुरुष सर्वत्रग है, और दूसरी व्याख्या के अनुसार वह स्थिर है।[2] फिर ऋग्वेद मे सत् को आनीदवात स्वधयातदेकम तथा ईशावास्योपनिषद् मे पुरुष को तदेजत तन्नैजत् तद्दूरे तदन्तिके कहा है जिनका अभिप्राय है कि पुरुष गमनशील और अगमनशील है। इन सब स्थापनाओ का यही तात्पर्य है कि सत्, पुरुष और अर्थ अन्ततोगत्वा एकार्थक है। यही एकमात्र वस्तु है जो स्वत· अपने मे मूल्यवान् है और जिसके सम्पूरण या सम्पूर्ति से इस जगत की सभी वस्तुयें मूल्यवान् हो जाती हैं। अत यही परमार्थ है। कुछ लोग इसे एक वर्धमान सत्ता मानते हैं। अन्य लोग इसे एक वर्धमान चित्त या प्रत्यय मानते हैं। किन्तु ये दोनो मत इसके स्वरूप की पर्याप्त व्याख्या नही करते हैं। यह वस्तुत सार्वभौम मूल्य है जिसके लक्षण सत्, चित् और आनन्द हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्द मूल्य का लक्षण है।

वास्तव मे पुरुष और अर्थ के सप्रत्यय ज्ञाता और ज्ञेय के सप्रत्यय सामान्यत माने जाते हैं। पुरुष को फिर आत्मा या चेतन कहा जाता है और अर्थ को विषय या जड कहा जाता है। इस प्रकार जड-चेतन का विभाग करके लोक व्यवहार, विज्ञान और दर्शन मे अनेक सिद्धान्त बनाए जाते हैं। इन समस्त सिद्धान्तो का मूल पुरुष और अर्थ का द्वन्द्व है।

---

[1] निरुक्त १, १८।

[2] देखिये—ईशावास्योपनिषद् भाष्य १६। यास्क ने भी पुरुष का अर्थ इस प्रकार किया है। देखिए निरुक्त २।३
पुरुष, पुरिषाद। पुरिशय। पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तर-पुरुषमभिप्रेत्य।

पुरुपार्थ की जो व्याख्या यहाँ की गइ है उसके अनुसार यह द्वन्द्व है और इम कारण इस पर आधारित सभी सिद्धान्त भी निर्मूल हैं। और अर्थ दोनो की सार्थकता पुरुपार्थ मे है। पुरुपार्थ का सप्रत्यय पुरुप अर्थ के सप्रत्ययो को आत्मसात् करता है और इस प्रकार पुरुपार्थ-के आधार पर ही लोकसज्ञान, विज्ञान और दर्शन के सिद्धान्तो की रचना कही जा सकती है।

पुरुप ही अर्थ है। इसका तात्पर्य है कि पुरुप की जो अवधारणा है पुरुपार्थ की अवधारणा है। जो लोग पुरुप को भौतिक मानते है उनके अनु पुरुपार्थ भी भौतिक है। जो लोग पुरुप को आध्यात्मिक मानते है अनुसार पुरुपार्थ भी आध्यात्मिक है। जो लोग पुरुप को विज्ञानमात्र मा हैं उनके अनुसार पुरुपार्थ भी विज्ञानमात्र है। जो लोग पुरुप को कल्पना मानते हैं उनके अनुसार पुरुपार्थ भी मात्र कल्पना हैं। इस दृष्टि से पुरुप ही पुरुपार्थ है, यह नियम पुरुपार्थो की पर्याप्त व्याख्या करता।

पुनश्च पुरुप ही अर्थ है या पुरुपार्थ है इसको इस रूप मे लेने की आवश्यकता है—पुरुप का स्वरूप चैतन्य है। यह चैतन्य ही पुरुपार्थ है। चैतन्य कभी पुरुपार्थ मे रिक्त या वचित नहीं है और पुरुपार्थ कभी चैतन्य से पृथग्भूत नही है। पुरुपार्थ का अस्तित्व वही है जो चैतन्य का अस्तित्व है। और चैतन्य का ज्ञान वही है जो पुरुपार्थ का ज्ञान है। दूसरे शब्दो मे पुरुपार्थ से चैतन्य का ज्ञान होता है और चैतन्य से पुरुपार्थ की सत्ता होती है।

चैतन्य को आधुनिक मनोविज्ञान मे ज्ञान, भावना और इच्छा या क्रिया से सपृक्त माना जाता है। कुछ लोगो ने इनको चैतन्य की तीन शक्तियाँ भी कहा है। किन्तु वास्तव मे चैतन्य अखण्ड है। इसमे ज्ञान, भावना और इच्छा या क्रिया सभी एक दूसरे मे नित्य ओत-प्रोत हैं। अत यह कहना कि इच्छा या क्रिया प्रयोजनवती होने के कारण पुरुपार्थ से सबन्धित हैं तथा ज्ञान और भावना पुरुपार्थ से सबन्धित नही है एक गलत मनोविज्ञान तथा दर्शन पर आधारित कथन है। सही कथन यह है कि पुरुपार्थ का सबन्ध सम्पूर्ण चैतन्य मे है। चैतन्य की ही भांति उसमे भी ज्ञानकर्तृक, भावना-कर्तृक और इच्छा-कर्तृक शक्तियां हैं। इस प्रकार चैतन्य की सार्थकता पुरुपार्थ होने मे है और पुरुपार्थ का महत्व चैतन्य होने मे हैं।

आजकल पुरुपार्थ को मूल्य से सबोधित करना उसके एक और लक्षण पर प्रकाश डालता है। वह यह कि मूल्य पुरुप और अर्थ से अधिक मूलगामी

तत्व है और इस कारण वह पुरुष और अर्थ का मात्र यौगिक नही है। पुरुषार्थ मूल्य के अर्थ-निर्धारण मे महत्व रखता है किन्तु वह मूल्य को एक यौगिक तत्व भी बना देता है। परन्तु मूल्य तत्व है और पुरुष तथा अर्थ उसके दो रूप है। इन रूपो से उसे भिन्न करने की आवश्यकता है। ऐसा भेद करने से मूल्य-दृष्टि पुरुष-दृष्टि और अर्थ-दृष्टि मे भिन्न सिद्ध होगी।

मूल्य मूल्य-दृष्टि के अनुसार न तो विषयगत है और न विषयिगत। जो कुछ विषयगत है वह पुरुष से पृथक् है और जो कुछ विषयिगत है वह अर्थ से पृथक् है। इस प्रकार मूल्य पुरुष और अर्थ दोनो के पारस्परिक अनु-प्रवेश को सिद्ध करने के कारण विषयगत-विषयिगत की कोटियो से परे है। पुन इसी कारण वह जड और चेतन की कोटियो से परे है। मूल्य-दृष्टि जड को पुरुष से सपृक्त मानती है और पुरुष को जड से सम्पृक्त। जड-चेतन का यह सम्पर्कभाव तत्वत. इन दोनो का सामरस्य है जो मूल्य के स्वरूप का प्रमुख रूप है। जिसमे यह सामरस्यरूप नही है वह अमूल्य है या मूल्य नही है।

कुछ लोगो ने मूल्य को इस रूप मे लिया कि अर्थ ही पुरुष है। उनके अनुसार पुरुष भी अनेक अर्थो मे एक अर्थ है और अर्थ का अस्तित्व पुरुष से स्वतन्त्र है। किन्तु यह मत किसी तर्क से समर्थित नही किया जा सकता है। कोई ऐसा अर्थ कल्पना मे भी नही आ सकता जो पुरुष से असबन्धित हो। वस्तुवादी दार्शनिक इस तथ्य को प्रत्ययवाद का सिद्धान्त मानते है और इसके खण्डन मे कहते है कि यद्यपि अर्थ का सबन्ध सदैव ज्ञान मे रहता है, तथापि अर्थ का सबन्ध केवल ज्ञान मे ही सदैव रहता है और किसी अन्य चीज से नही, ऐसा नही कहा जा सकता है। स्पष्टत वे प्रत्ययवाद मे एक दुर्नय देखते है जिसे वे एकान्त निधेयता का दोष कहते है। उनके अनुसार यदि मनुष्य किसी वस्तु की कल्पना अपनी चेतना से असबन्धित नही कर सकता

है, ऐसा न कह कर पुरुष अर्थ है ऐसा कहना अधिक उचित है, क्योंकि पुरुष अर्थ का आश्रय होने से अर्थ से अधिक व्यापक है।

अब प्रश्न है कि जब पुरुष ही पुरुषार्थ है तो फिर पुरुष का क्या अर्थ है ? इस प्रसग मे विधि रूप से कहा जा सकता है कि पुरुष का अर्थ आत्मा है जिसका विश्लेषण हमने आत्मा के स्वभाव नामक निबन्ध मे किया है। फिर निषेधरूप से कहा जा सकता है कि पुरुष का अर्थ कोई व्यक्ति या व्यष्टि नही है क्योकि जो समष्टि है वह व्यष्टि का विरोधी है, किन्तु वह आत्मा का विरोधी नही है। व्यष्टि-समष्टि एक द्वन्द्व है जो आत्मा का विषय है और इस कारण आत्मा स्वत न तो व्यष्टि हैं और न तो समष्टि। पुरुषार्थ के दृष्टिकोण से व्यष्टि और समष्टि दोनो एक दूसरे के सापेक्ष मूल्य हैं और इस कारण दोनो मिलकर मूल्य का स्वरूप-निर्धारण करते हैं।

पुनश्च पुरुष का अर्थ मानव नही हैं, क्योकि मानवो के अतिरिक्त अन्य जीवो मे भी आत्मा है। किन्तु मानवो मे आत्मज्ञान अथवा मूल्यबोध अन्य जीवो की अपेक्षा अधिक है, इस कारण मानवतावादी लोग मानव को ही सर्वश्रेष्ठ जीव मानते हैं और वे मानवो से उच्चतर कोई जीव नही मानते हैं। किन्तु ईश्वरवादियो ने ईश्वर को मानवों से उच्चतर प्राणी माना है और वे एक प्रकार से मानवतावाद का विरोध करते है। जहाँ मानवतावाद केवल मानवीय अथवा लौकिक मूल्यो का ही विवेचन करता हैं वहाँ ईश्वरवाद दिव्य अथवा अलौकिक मूल्यो को लौकिक मूल्यो से उच्चतर घोषित करता है। आधुनिक युग मे नीत्शे और श्री अरविन्द ने अतिमानववाद का सिद्धान्त और आदर्श प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार मनुष्य विकास की परम्परा मे अब मानव से अधिक अतिमानव हो रहा है। नीत्शे इस विकास को प्राकृतिक विकास का प्रतिफल कहते हैं और श्री अरविन्द इसे आध्यात्मिक योगसाधना का परिणाम मानते हैं। श्री अरविन्द का मत मूल्य-मीमासा के अनुसार नीत्शे के मत की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है। किन्तु उनका मत वास्तव मे भारतीय अध्यात्मवाद का ही एक आधुनिक रूपान्तर है। शङ्कराचार्य के वेदान्त मे भी एक अमानव-पुरुष का स्थान है जो मानवो को ब्रह्म तक पहुँचाता है। यह अमानव पुरुष ब्रह्म और मानव का मध्यस्थ है। इसका अस्तित्व सिद्ध करता है कि वेदान्त मानवतावाद से अधिक है। पुनश्च, वेदान्त का ब्रह्म न तो मानव है और न तो वह मानवीय गुणो का भण्डार ही है। वह निर्गुण और निराकार है। उसी को शङ्कराचार्य ने आत्मा कहा है। उसी को उपनिषदो ने पुरुष कहा है। और, उसी को हम पुरुषार्थ कह रहे हैं। पुरुषार्थ का वास्तविक

अर्थ यही ब्रह्म है। स्पष्ट है इस अर्थ में केवल एक पुरुषार्थ है जो मोक्ष है। अतः पुरुषार्थ का मुख्य अर्थ मोक्ष है। मोक्ष के अतिरिक्त जो अन्य पुरुषार्थ माने गये हैं वे इसलिए पुरुषार्थ हैं कि वे परम्परया मोक्ष के साधक हैं। इस दृष्टि से पुरुषार्थ कोई मानवीय मूल्य नहीं है। जो मानवीय मूल्य है वह एक गौण अर्थ में पुरुषार्थ है। समस्त मूल्यों को मानवीय मूल्य मानना मूल्यों में मनुष्याकार का आरोप करना है जो स्पष्टतः एक तर्क-दोष है।

वास्तव में ब्रह्म और पुरुषार्थ को एकार्थक मान लेने से मुख्य अर्थ और गौण अर्थ का एक घपला हो जाता है जिससे बचना आवश्यक है। शङ्कराचार्य ने इस घपले से ही बचने के लिए कहा है कि ब्रह्म न तो हेय है और न तो उपादेय[१]। जो लोग मानते हैं कि जो उपादेय है वह मूल्य है और जो हेय है वह अपमूल्य है उनके मत से ब्रह्म न तो मूल्य है और न अपमूल्य। स्वयं शङ्कराचार्य भी ब्रह्म को इस रूप से रखने का प्रयास करते हैं। वे बार-बार कहते हैं कि ब्रह्म सर्वात्मा होने के कारण नित्य प्राप्त है। वे इसे एक परिनिष्ठित वस्तु भी कहते हैं और इसको भव्य वस्तु से भिन्न बताते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्म कोई मूल्य नहीं है और वह एक वस्तु है। इस दृष्टि से हमने ऊपर पुरुषार्थ का जो अर्थ निश्चित किया है वह शङ्कराचार्य के मत के प्रतिकूल हो जाता है। अतः प्रश्न है कि क्या हमारा अर्थ सही है? और क्या शङ्कराचार्य के अनुसार ब्रह्म पुरुषार्थ है?

वास्तव में शङ्कराचार्य ने ब्रह्म को आत्मा तथा परिनिष्ठित वस्तु कहा है। किन्तु आत्मा शुद्ध-चेतना है और परिनिष्ठित वस्तु एक और अद्वितीय सत् है। जो वस्तु एक और अद्वितीय होती है वह कोई लौकिक वस्तु नहीं है। उसे हम समस्त विश्व या ब्रह्माण्ड भी नहीं कह सकते, क्योंकि विश्व या ब्रह्माण्ड का विकास सदा होता रहता है। एक और अद्वितीय वस्तु को कूटस्थ नित्य कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि वह विकास की प्रक्रिया से परे है। फिर उसे आनन्द या भूमा कहा गया है। अन्त में, उसके अधिष्ठान के बारे में कहा गया है कि उसका अधिष्ठान उसकी महिमा है[१]। इससे स्पष्ट हो जाता

है कि ब्रह्म वास्तव मे परमार्थ या पुरुषार्थ है, क्योकि जिस वस्तु का अधिष्ठान स्वय उसकी महिमा हो वह वस्तु मूल्य है। फिर, वस्तु का भी अर्थ वास्तव मे सार-वस्तु या महत्वपूर्ण वस्तु है। इससे भी सिद्ध होता है कि शकराचार्य के मत से भी वस्तु और मूल्य एकार्थक हैं। ब्रह्म वास्तव मे एकमात्र मूल्य है। वही एकमात्र पुरुष है। अत हमने पुरुषार्थ का जो अर्थ निश्चित किया है वह शकराचार्य के मत के सर्वथा अनुकूल है। ब्रह्म सर्वव्यापी है। पुरुष भी सर्व-पूरक हैं क्योकि जो सबका पूरक हो वही पुरुष है। पूरणात् पुरुष। इस प्रकार ब्रह्म और पुरुष एकार्थक हैं। ब्रह्म अहेय और अनुपादेय होता हुआ भी पुरुषार्थ है क्योकि वह सभी प्रकार के दु खो का नाश है[१]।

यहाँ पर वस्तु, मूल्य और ज्ञान के सम्बन्ध को समझ लेना आवश्यक है। वस्तुवादी केवल वस्तुओ को ही सत् मानते है और वस्तु का अर्थ देशकाल तथा निमित्त से निर्धारित द्रव्य करते हैं। ज्ञान को वे द्रव्यो का द्वितीयस्तरीय गुण मानते हैं और मूल्य को तृतीयस्तरीय गुण। इस प्रकार वस्तुवाद द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को एक मौलिक सम्बन्ध मानता है और गुणो के क्रमश प्रथम स्तरीय गुण, द्वितीयस्तरीय गुण और तृतीयस्तरीय गुण मानकर उनके पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या खडा करता है। पश्चिम मे सैम्युअल एले-क्जेण्डर को हम इस वस्तुवाद का प्रतिनिधि मान सकते हैं। द्रव्यगुण-सम्बन्ध, द्रव्यो के पारस्परिक सम्बन्ध और गुणो के पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध करते हैं कि ये सब विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध हैं और सभी सम्बन्ध देश, काल और निमित्त से निर्धारित नही है। अत वस्तुवाद के अन्दर विसगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो वस्तुवाद के द्वारा हल नही हो सकती। पुनश्च, सत्ता की समस्या, ज्ञान की समस्या और मूल्य की समस्या वस्तुवाद मे हास्यास्पद समाधान पेश करती है। इसके अनुसार सत्ता असत्ता से भिन्न है, ज्ञान अज्ञान से भिन्न है और मूल्य अपमूल्य से भिन्न है। किन्तु असत्ता, अज्ञान और अपमूल्य उसके अनुसार अवास्तव है। यदि वह उनकी अवास्तविकता को दूर करने का प्रयास करता है तो वह मानने लगता है कि असत्ता निम्नतम प्रकार की सत्ता है, अज्ञान निम्नतम प्रकार का ज्ञान है और अपमूल्य निम्नतम प्रकार का मूल्य है। स्पष्ट है कि यह समाधान पूणत हास्यास्पद है। इस प्रकार वस्तुवाद अनेक विरोधो से ग्रस्त है। प्रत्ययवादी ज्ञानमीमासा का दृष्टिकोण वस्तुवादी

---

[१] हेयोपादेय शून्य ब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धे।
—शारीरक भाष्य १।१।४

तत्त्व मीमांसा के दृष्टिकोण से मूलतः इस बात में भिन्न है कि वह ज्ञान को समस्त वस्तुओं का आधार मानती है। उसमें ज्ञान न तो द्रव्य है और न गुण। वह एक स्वतः सत् है जिसके द्वारा ही समस्त द्रव्यों एवं गुणों तथा उनके सम्बन्धों का प्रादुर्भाव होता है। इसके अनुसार ज्ञान वस्तु के बारे में नहीं होता है, ज्ञान वस्तु का चित्र या प्रतिबिम्ब नहीं है, ज्ञान वस्तु से भिन्न नहीं है, अपितु ज्ञान ज्ञान वस्तु है। ज्ञान वस्तु ही है। जो वस्तु ज्ञात होती है वही ज्ञान हो जाती है। अतः वस्तु ज्ञान से स्वतन्त्र या पृथक् नहीं है और न ज्ञान ही वस्तु से स्वतन्त्र या पृथक् है। इस ज्ञान-मीमांसा के अनुसार वस्तुयें प्रमेय हैं और मूल्य ज्ञान का प्रयोजन हैं। स्पष्ट है कि यहाँ ज्ञान, ज्ञेय या प्रमेय और मूल्य या प्रयोजन का द्वैत खड़ा हो जाता है, जिसके कारण ज्ञेय-विषयों और मूल्यों से सम्बन्ध ज्ञान में दो प्रकार के हो जाते हैं। जिस प्रकार ज्ञेय विषय ज्ञान हैं उसी प्रकार मूल्य ज्ञान नहीं है। ज्ञान के विषय ज्ञानाधीन और ज्ञानाकार हैं किन्तु मूल्य ज्ञानाधीन और ज्ञानाकार नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञान-मीमांसा विषयवाद और मूल्यवाद के दो जगत् प्रस्तुत करती है जिनके बीच किसी प्रकार का आदान-प्रदान या विनिमय नहीं हो सकता है। इस द्वैत को दूर करने के लिए मूल्य को उसी तरह केन्द्र में रखना है और वहाँ से ज्ञान को हटाना है जैसे ज्ञानमीमांसा ने द्रव्य को हटाकर ज्ञान को केन्द्र में रखा।

अभिन्न है जो किसी व्यक्ति मे रहती है। वास्तव मे यह आत्मा सर्वान्तर्यामी है और जो कुछ है वह उसमे ही है। इस प्रकार ज्ञान मूल्यात्मक है और वस्तुये मूल्य हैं। जो सत् है उसका मूल्य तो है ही, साथ ही जो असत् है उसका भी मूल्य हैं। जो ज्ञान है वह तो मूल्य है ही किन्तु जो अज्ञान है उसका भी कुछ मूल्य है। सुख-दुःख के भी अपने-अपने मूल्य हैं। इस प्रकार मूल्यो के जगत् मे मूल्यो के अतिरिक्त और कुछ नही है।

जिन्हे हम अपमूल्य कहते हैं वे वास्तव मे किसी सन्दर्भ मे मूल्य हैं। अपमूल्य मूल्य का अभाव या निम्नतम मूल्य नही है, वह एक प्रकार का मूल्य ही है। इस तरह मूल्य और अपमूल्य के सम्बन्ध की समस्या भी मूल्यमीमासा मे न्यायोचित ढग से हल हो जाती है। अभी तक हमने ज्ञान, वस्तु और मूल्य को समानार्थक कहा है। इस अर्थ मे हमने पुरुष शब्द का भी प्रयोग किया हैं। वास्तव मे आधुनिक शब्द मूल्य या परमार्थ इस अर्थ को सबसे अधिक अभिव्यक्त करता है। अत हम मूल्य या परमार्थ शब्द का ही प्रयोग इस प्रसग मे अधिक उचित समझते हैं। अब यहा यह जान लेना भी आवश्यक है कि मूल्य का सम्बन्ध भाव-अभाव या सत्-असत् से क्या है। मूल्य व्यवहारत असत् हैं और यथार्थत सत् हैं। वे भाव या सत् तथा अभाव या असत् से विलक्षण हैं। सत्ता या भाव पर उनका अधिकार है, वे सत् होने को तत्पर हैं। अत उन्हे सत्य कहा जाता है। वे ऐसे सत् हैं जिन्हे होना चाहिए। उनके अस्तित्व मे एक ओर भवितव्यता का दावा है तो दूसरी ओर उसके औचित्य का विधान है। इस कारण उन्हे भाव और अभाव के मध्य का भी कहा जाता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि वे भव्य या प्रवर्तमान (बिकमिग) हैं। जो प्रवर्तमान होता है वह बहुरूप या परिवर्तनशील होता है। किन्तु मूल्य एकरूप हैं। वे आदर्श हैं। इस कारण वे भव्य नहीं हैं।

वास्तव मे भाव-अभाव या सत्-असत् की कोटियां मूल्य-चेतना मे महत्वहीन हैं। वे मूल्य-रहित या वितथ चेतना से उत्पन्न कोटियां हैं। अतएव वे स्वय व्यर्थ हैं।

२ मूल्यों की प्रकारता

भारत के मनीषियो ने मनुष्य के जीवन के चार प्रयोजन निश्चित किये हैं जिन्हें चार पुरुषार्थ कहा जाता है। ये हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। कुछ लोग इन्हे चार फल या चार पदार्थ भी कहते हैं। इन्हीं को चार परमार्थ भी कहा जाता है। कभी-कभी इनको चार वर्ग भी कहा जाता है।

मानव जीवन के इन प्रयोजनों को फल, पदार्थ, परमार्थ, पुरुषार्थ तथा वर्ग कहने से इनके स्वरूप-निर्धारण में सहायता मिलती है। सबसे पहले ये फल हैं, इसका तात्पर्य है कि ये फल के समान मधुर और सुखदायक हैं। जैसे फल खाने से शारीरिक सुख और शक्ति मिलते हैं और शारीरिक क्षुधा की शान्ति होती है वैसे इन प्रयोजनों की प्राप्ति से समस्त मानवीय सुख और शक्ति मिलते हैं तथा समस्त मानवीय माग या क्षुधा या प्यास की शान्ति होती है। दूसरे, ये पदार्थ हैं, इसका तात्पर्य है कि ये तत्व हैं। ये काल्पनिक मनोरथ नहीं हैं। ये स्वयमेव सत् हैं। तीसरे, ये परमार्थ हैं; इसका तात्पर्य यह है कि इनकी सत्ता स्वयं इन पर ही निर्भर है। ये निरपेक्ष तत्त्व हैं। चौथे ये पुरुषार्थ हैं, इसका तात्पर्य है कि ये पुरुष की चेतना के अनिवार्य पहलू हैं। पुरुष इन्हीं प्रयोजनों के कारण पुरुष है। यदि ये प्रयोजन पुरुष की चेतना के आकार-प्रकार में व्याप्त न होते तो पुरुष उस प्रकार का न होता जैसा वह आज है। पाँचवे ये वर्ग हैं, इसका तात्पर्य है कि ये प्रयोजन वास्तव में कई प्रयोजनों के वर्ग हैं। प्रत्येक प्रयोजन में अनेक तारतम्य हैं। उदाहरण के लिए काम प्रयोजन को लीजिए। इसके अन्दर संभोग का सुख, भोजन का सुख, सौन्दर्य के अनुभव का सुख तथा कलाकृति के सुख शामिल हैं। इसलिए काम एक वर्ग है। वह स्वयं प्रयोजन होता हुआ भी अन्य प्रयोजनों का एक वर्ग भी है। इसी प्रकार अर्थ और धर्म भी एक ओर स्वयं प्रयोजन हैं और दूसरी ओर वे अनेक प्रयोजनों के वर्ग हैं। मोक्ष में इस नियम का पालन नहीं होता है। इसलिए इसे अपवर्ग कहा जाता है अर्थात् यह स्वयं प्रयोजन तो है किन्तु अनेक प्रयोजनों का वर्ग नहीं है।

यह उल्लेखनीय है कि पहले पुरुषार्थों को तीन ही माना जाता था और मोक्ष की गणना पुरुषार्थ में नहीं की जाती थी। इसका मूल कारण यह था कि पुरुषार्थ का यह लक्षण किया गया था कि वह स्वयं प्रयोजन हो और साथ ही साथ अनेक प्रयोजनों का एक वर्ग भी हो। किन्तु वास्तव में वर्गीकरण का महत्व प्रयोजन-मीमांसा में नहीं है। यद्यपि मोक्ष कोई वर्ग नहीं है तथापि इसे भी प्रयोजन होने के कारण एक पुरुषार्थ माना गया।

मोक्ष और निर्वाण के [illegible] अन्तर में पुरुषार्थ का स्वरूप [illegible] कठिनाई मिलती है। प्रश्न है कि [illegible] पुरुषार्थ का [illegible] है— [illegible]

वरीयता देने की समस्या रहेगी। पुरुषार्थ-बोध तब श्रेय-बोध होगा और इस विचार से सर्वोत्तम या श्रेष्ठ असभव होगा क्योंकि जो सभव है वह आपेक्षिक रूप से ही प्रशस्ततर है, न कि प्रशस्ततम। फिर यदि पुरुषार्थ वास्तव मे परमार्थ है तो उसका रूप निरपेक्ष होगा, एकरस होगा और वह एक वर्ग न होगा। इस दृष्टि से एकमात्र पुरुषार्थ श्रेष्ठता या सर्वोत्तमता है और जो कुछ श्रेय या प्रशस्ततर है वह प्रधानत पुरुषार्थ नही है। इस दृष्टि से कुछ लोग मोक्ष को ही पुरुषार्थ मानते है और अन्य पुरुषार्थो को केवल गौण रूप से पुरुषार्थ कहते हैं। यदि पुरुषार्थ के दृष्टिकोण से देखा जाय तो उसकी परमार्थता अनिवार्य है। उसका यह रूप जैसा कि आगे दिखाया जायगा अन्य पुरुषार्थो मे भी विद्यमान है। अत मोक्ष की ही एकमात्र पुरुषार्थता सिद्ध होती है।

पुरुषार्थो के विकास की कहानी काफी बडी है। पहले केवल अर्थ या केवल काम को ही पुरुषार्थ माना जाता था। फिर काम और अर्थ को पुरुषार्थ माना गया। इसके पश्चात् काम, अर्थ और धर्म को पुरुषार्थ गिना जाने लगा। अन्तत इन तीन पुरुषार्थो मे मोक्ष को भी जोड दिया गया। इसी प्रकार पुरुषार्थो के विकास मे आगे चलकर इन चार पुरुषार्थो मे भक्ति को भी जोडा गया और भक्ति को पाँचवा पुरुषार्थ माना गया। हम इन पाँच पुरुषार्थो मे शक्ति को भी जोडना उचित समझते हैं। इसलिए हमारे विचार से कुल पुरुषार्थ छ हैं।

इन छ पुरुषार्थों का सीधा सम्बन्ध मानव की छ अवधारणाओ से हैं। इस प्रसग मे हम वेदान्त-दर्शन को पुरुषार्थ-दर्शन का आधार मानते हैं। इस आधार पर पुरुष के निम्नलिखित छ रूप हैं—

(१) अन्नमय कोश

(२) प्राणमय कोश

(३) मनोमय कोश

(४) विज्ञानमय कोश

(५) आनन्दमय कोश

(६) कोशातीत आत्मा

इन छ रूपो के अनुसार छ पुरुषार्थ हैं। अन्नमय कोश का रूप अर्थ है, प्राणमय कोश का रूप शक्ति है, मनोमय कोश का रूप काम है। विज्ञानमय

कोश का रूप धर्म है, आनन्दमय कोश का रूप भक्ति है और कोशातीत आत्मा का रूप मोक्ष है।

प्रत्येक मानव में चेतना के उपर्युक्त छ रूप हैं। जो मनुष्य जिस रूप में विशेषत आसक्त है उसके लिए उसका प्रयोजन वही है जो उसका रूप है। इस प्रकार प्रयोजनों के छ स्तर है और उनके तारतम्य पांच कोशों तथा कोशातीत आत्मा के तारतम्य के आधार पर हैं।

अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश के रूप मुख्यत व्यष्टिगत और समष्टिगत हैं। इसलिए इनके इन रूपों के अनुसार पुरुषार्थों के भी व्यष्टिगत और समष्टिगत प्रकार हो जाते है। फलतः अर्थ, शक्ति, काम, धर्म और भक्ति के व्यष्टिगत और समष्टिगत प्रकार हैं। अर्थ के समष्टिगत प्रकार को सामाजिक समृद्धि, शक्ति के समष्टिगत प्रकार को राज्य-सत्ता, काम के समष्टिगत प्रकार को कला, धर्म के समष्टिगत प्रकार को धर्मसंघ और भक्ति के समष्टिगत प्रकार को सत्सग कहा जा सकता है। *मोक्ष समष्टि और व्यष्टि के द्वन्द्व से मुक्त है। अतएव वह न तो व्यष्टिगत* पुरुषार्थ है और न समष्टिगत। वह सभी अन्य पुरुषार्थों का मूल है। वह स्वत व्यष्टि और समष्टि से परे है क्योंकि वह द्वन्द्वातीत अवस्था है। फिर भी स्वमुक्ति और सर्वमुक्ति की कल्पनाएं की गई हैं जो वास्तव में व्यष्टिगत भक्ति तथा समष्टिगत भक्ति के ही प्रकार है।

प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है अत वह धर्म-रूप भी है। उसके प्रति प्रत्येक प्राणी का प्रेम तथा तन्मयतापूर्वक लगाव है अत वह भक्ति-रूप है। अन्त मे उसकी प्राप्ति से थकान मिटती है, क्षुधा से मुक्ति मिलती है और एक प्रकार के स्वातन्त्र्य का अनुभव होता है, अत वह मोक्ष-गुण से भी सम्पन्न है। इस प्रकार वास्तव मे भोजन मे भी थोडा-बहुत सभी पुरुषार्थों का अनुभव होता है। इसी प्रकार छहो पुरुषार्थ आपस मे एक दूसरे से ओत-प्रोत हैं। इन छहों से पुरुषार्थ के स्वरूप का निर्धारण होता है। किन्तु अब प्रश्न उठता है कि यदि सभी पुरुषार्थ परस्पर ओत-प्रोत हैं तो उन्हे एक दूसरे से कैसे भिन्न किया जाता है ? इसका उत्तर है कि प्रधानता के कारण किसी पुरुषार्थ का नाम करण कर दिया गया है, प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति, प्रधानता के कारण नाम करण होता है, यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। जिस पुरुषार्थ मे काम की प्रधानता रहती है उसे काम कहा गया। जिसमे शक्ति की प्रधानता रहती है उसे शक्ति कहा गया, एवमादि।

पुरुषार्थो के परस्परानुप्रवेश के कारण अनेक लोग प्राय एक ही पुरुषार्थ मानते हैं। इस प्रकार पुरुषार्थों के बारे मे छह मत हो जाते हैं जो कामवाद अर्थवाद, शक्तिवाद, धर्मवाद, भक्तिवाद और मोक्षवाद हैं। इन छहो मतो मे से प्रत्येक मत अपने अन्दर अपने से भिन्न अन्य पुरुषार्थों को भी शामिल करता है। उदाहरण के लिए कामवाद मे काम को ही एकमात्र पुरुषार्थ माना जाता है। किन्तु इसमे काम के अन्दर अन्य पुरुषार्थो का अन्तर्भाव कर दिया जाता है। इसी प्रकार शक्तिवाद मे शक्ति को एकमात्र पुरुषार्थ माना जाता है और उसके अन्दर अन्य पुरुषार्थों को शामिल कर लिया जाता है। फ्रायड को कामवादी, मार्क्स को अर्थवादी, नीत्शे को शक्ति वादी, काण्ट को धर्मवादी, आगस्टाइन को भक्तिवादी और हेगल को मोक्षवादी माना जा सकता है। भारतीय दार्शनिको मे वात्स्यायन को कामवादी, वैशम्पायन को शक्तिवादी, कौटिल्य को अर्थवादी, मनु ,को धर्मवादी, रामानुज को भक्तिवादी और शकराचार्य को मोक्षवादी माना जा सकता है। इस विषय मे वात्स्यायन का कामसूत्र, वैशम्पायन का नीतिप्रकाशिका ग्रन्थ, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मनुकी मनुस्मृति, रामानुज का श्रीभाष्य और शकराचार्य का शारीरकभाष्य विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं जिनमे क्रमश काम, शक्ति, अर्थ, धर्म, भक्ति तथा मोक्ष के सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किये गये हैं।

वास्तव मे पुरुषार्थ एक ही है। सभी परिगणित पुरुषार्थ उस एक पुरुषार्थ के विभिन्न रूप हैं, न कि विभिन्न अग। इस पुरुषार्थ का मुख्य तत्व क्या है ?

इस विषय मे भारतीय दर्शन में दो मत प्रचलित हैं। एक मत से धर्म से ही सभी अन्य पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। इसलिए धर्म ही पुरुषार्थ की आत्मा है। दूसरे मत से सभी पुरुषार्थों का लक्षण मुक्ति या मोक्ष है और इसलिये सभी पुरुषार्थ मोक्ष से सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यद्यपि भारत मे कामवाद, अर्थवाद और शक्तिवाद की विचार-धारा अवश्य विकसित हुई तथापि धर्मवाद और मोक्षवाद ने उन विचारधाराओ को ध्वस्त कर दिया और मूल्यमीमासा के रूप मे धर्मवाद तथा मोक्षवाद विशेष रूप से प्रतिष्ठित हुए। इनमे भी मोक्षवाद ने धर्मवाद को भी आत्मसात् कर लिया और अन्तत समस्त भारतीय दर्शनो के निष्कर्ष के अनुसार मोक्षवाद ही एकमात्र भारतीय मूल्यमीमासा के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ। किन्तु यह मूल्यमीमासा के विकास की अन्तिम अवस्था है। इसकी आरम्भिक अवस्थाओ मे कामवाद, धर्मवाद आदि वाद भी महत्वपूर्ण हैं। इन आरम्भिक अवस्थाओं ने ही मोक्षवाद को विकसित किया है।

मोक्ष को कुछ लोग सर्वोच्च मूल्य या सबसे बड़ा परमार्थ मानते हैं। किन्तु *हमारे विचार से मोक्ष मूल्यमात्र का सार है। दूसरे शब्दो मे, जिस अनुभव* से मोक्ष नहीं होता वह निरर्थक है। इसके लिये हम निम्नलिखित तर्क दे सकते हैं —

है। और, अर्थ आत्मकल्याण के लिए है, स्वतः वह निरर्थक है। यही आत्मकल्याण मोक्ष का रूप है। इस प्रकार मोक्ष का सीधा सम्बन्ध अर्थ से हो जाता है।

४ मोक्ष निःश्रेयस है। वह परम कर्त्तव्य है। इसलिए मोक्ष ही धर्म की आत्मा है। फिर धर्म वही है जो विश्व-बन्धन से मुक्ति दे, अपने कर्त्ता का कल्याण या श्रेय करे। इस रूप से धर्म स्वयं मोक्ष का वाहक है।

५ मोक्ष भगवत्प्राप्ति है। जो मोक्ष पाता है वह भक्त है और जो भक्त है वह मोक्ष को प्राप्त करता है या कर सकता है। इसलिए भक्त और मुक्त पुरुष में अन्तर नहीं किया जाता है। फिर भक्ति स्वयं प्रेमास्पद है। वह परमात्मा से अनुरक्ति है। यही मोक्ष-दृष्टि भी है। अतः भक्ति ही मोक्ष का रूप है या मोक्ष की अन्तिम अवस्था है।

इन हेतुओं पर विचार करने से सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक पुरुषार्थ का मूल्य मोक्ष में है। अर्थात् मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ है। अन्य पुरुषार्थ मोक्ष के ही विविध रूप हैं।

मोक्ष की पुरुषार्थ-मूलकता को स्वतन्त्रता कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता कोई एक मूल्य ही नहीं है किन्तु समस्त मूल्यों का आधार और अन्त है। स्वतन्त्रता में ही मूल्यों का आविर्भाव होता है, स्वतन्त्रता में ही मूल्य स्थिर रहते हैं और स्वतन्त्रता में ही समस्त मूल्यों का पर्यवसान होता है। इस दृष्टि से पश्चिमी दर्शन के कुछ विचारक भी स्वतन्त्रता को एकमात्र मूल्य मानते हैं। उनकी इस मान्यता तथा भारतीय मोक्षवाद में परमार्थतः कोई अन्तर नहीं है। स्वतन्त्रता का लक्षण वही है जो उपनिषदों में ब्रह्म का लक्षण है। इस कारण कुछ लोग स्वतन्त्रता को ब्रह्म मानते हैं। आधुनिक शब्दावली में इस मान्यता का अर्थ है कि स्वतन्त्रता असीम है और समस्त मानवीय व्यापारों में व्याप्त है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मोक्षवाद समस्त मूल्यमीमांसा का सार है। अतः मोक्ष का निरूपण करना मूल्य-बोध का ही निरूपण करना है और मूल्य-बोध का चरम विकास करना ही मोक्ष को प्राप्त करना है।

३ मूल्यों का तारतम्य

(क) एकवर्गीय तारतम्य

अर्थ, शक्ति, काम, धर्म, भक्ति और मुक्ति मानव जीवन के छः पुरुषार्थ हैं। कुछ लोग इनमें से प्रत्येक पुरुषार्थ में एक तारतम्य मानते हैं। ये तारतम्य

अनुसार आचरण करके इन मनुष्यों से अच्छा हो सकता है जो इनसे निम्न-तर काम्यकर्म करते हैं या जो नैमित्तिक और नित्य कर्म के धरातल पर हैं।

भक्ति का तारतम्य अन्य तारतम्यों की भाँति प्रमुख रूप से साधन भक्ति या इतर भक्ति और साध्य भक्ति या परा भक्ति का विभेद प्रस्तुत करता है। इसमें भक्तों की अनेक श्रेणियाँ मानी गई हैं जिनमें से अर्थार्थी भक्त, आर्त भक्त, जिज्ञासु भक्त और ज्ञानी भक्त मुख्य माने गये हैं। अर्थार्थी भक्त से आर्त भक्त, आर्त भक्त से जिज्ञासु भक्त और जिज्ञासु भक्त से ज्ञानी भक्त अच्छे माने जा सकते हैं।

अन्त में मुक्ति का तारतम्य है जिसके अनुसार मुक्ति चार प्रकार की बताई जाती है। पहली जो सबसे निम्न है सालोक्य मुक्ति है जिसको पाने वाला मनुष्य भगवान् के लोक में निवास करता है। सालोक्य मुक्ति से अच्छी सामीप्य मुक्ति है जिसको पाने वाला मनुष्य भगवान् के समीप निवास करता है। सामीप्य मुक्ति से अच्छी सारूप्य मुक्ति है जिसको पाने वाला मनुष्य भगवान् के समान रूप वाला हो जाता है। अन्त में सारूप्य मुक्ति से भी अच्छी सायुज्य मुक्ति है जिसको पाने वाला मनुष्य भगवान् में घुल-मिल जाता है। स्पष्ट है कि भगवान् मूल्यों की मूर्ति है और जो मनुष्य इस मूर्ति के जितना निकट जाता है वह उतना ही अधिक मूल्य-लाभ करता है। विपरीततः जो मनुष्य भगवान् से जितना दूर जाता है या जितना विमुख होता है वह उतना ही अधिक पातकी होता है या पतन करता है। उत्थान और पतन का यह तारतम्य ऊपर से दैशिक तारतम्य या निकट-दूर का तारतम्य लगता है, किन्तु वास्तव में यह दैशिक रूपक है और इसका अर्थ आध्यात्मिक है। मूलतः यह ज्ञान का तारतम्य है जो अपने साथ मूल्यवत्ता का भी तारतम्य समेटे हुए है।

(ग) मूल्यों की मर्यादा

उपर्युक्त छ मूल्यो को साध्य-साधन के तारतम्य मे रखने से उनकी मर्यादा का निर्धारण हो जाता है। अर्थ वही और उतना ही मूल्यवान् है जितना वह शक्ति-वर्धक है, शक्ति वही और उतनी ही मूल्यवान् है जितनी वह काम-वर्धक है, काम वही और उतना ही मूल्यवान है जितना वह धर्म-वर्धक है, धर्म वही और उतना ही मूल्यवान् है जितना वह भक्ति-वर्धक है और भक्ति वही और उतनी ही मूल्यवान् है जितनी वह मोक्षदायिनी है। मोक्ष की कोई सीमा या मर्यादा नही है क्योकि वह स्वत असीम और अलौकिक है और इसलिए सभी मर्यादाओ से मुक्त है। सभी मर्यादाएँ लौकिक मूल्यो की होती है।

इससे अर्थ, शक्ति, काम, धर्म और भक्ति के गुण-दोष प्रकट हो जाते है। जिस और जितने अर्थ से कोई शक्ति न मिले वह व्यर्थ है क्योकि वह अति-न्यून है। पुनश्च जिस और जितने अर्थ से अर्थ स्वय साध्य हो जाता है वह भी व्यर्थ है क्योकि वह शक्ति का साधन नही रह जाता। वह अति-अधिक हो जाता है। इस प्रकार एक ओर अतिन्यूनता और दूसरी ओर अत्यधिकता दोनो दोप है—दोनो दो अतियां है। इसी को कहा जाता है कि अति सर्वत्र वर्जित होनी चाहिए। इसी प्रकार शक्ति, काम, धर्म और भक्ति मे भी अति वर्ज्य हैं क्योकि वह स्वत साध्य-पद पर हो जाती है और उससे क्रमश मोक्ष का साध्य निष्पादित नही होता है। इस प्रकार मोक्ष के अतिरिक्त अन्य सभी मूल्यो की एक मर्यादा है। इसको हम मूल्य-मर्यादा का सिद्धान्त कह सकते हैं। इस दृष्टि से अरिस्टाटिल का माध्यम का सिद्धान्त तथा बौद्धो का मध्यमा-पतिपद् का सिद्धान्त मूल्यो के वास्तविक निकप हैं। मूल्यो का साध्य साधन-सोपान उनके न्यूनतम तथा अधिकतम रूप का निर्धारण करता है।

इस प्रकार जब किसी कर्म या मनुष्य का मूल्यांकन किया जाय तब उसके मूल्यांकन के कुल छ आयाम सिद्ध होते हैं। प्रत्येक आयाम मे उसका जो स्थान होगा और उस आयाम का जो स्थान होगा उसके अनुसार उसका मूल्यांकन होगा। कोई मनुष्य काम मे क$_1$ स्थान पर हो सकता है, शक्ति मे श$_1$ स्थान पर, अर्थ मे अ$_1$ स्थान पर, धर्म मे ध$_1$ स्थान पर, भक्ति मे भ$_1$ स्थान पर और मोक्ष मे म$_1$ स्थान पर। इस प्रकार वह मनुष्य इस मूल्यांकन मे क$_1$, श$_1$, अ$_1$, ध$_1$, भ$_1$, म$_1$ हुआ। यदि इस मूल्यांकन मे हम "है" या

होनाको जोड दें तो फिर हम किसी मनुष्य को है (अ$_1$, श$_1$, क$_1$, ध$_1$, भ$_1$, म$_1$) कह सकते हैं। इस प्रकार

मनुष्य = है (अ$_1$, श$_1$, क$_1$, ध$_1$, भ$_1$, म$_1$) जबकि है का मतलब अ$_1$, श$_1$, क$_1$, ध$_1$, भ$_1$ और म$_1$ को प्राप्त करने वाला कोई वास्तविक व्यक्ति है।

मनुष्य अ$_1$, श$_1$, क$_1$, ध$_1$, भ$_1$ और म$_1$ मे भी क्रमश निम्नतर से उच्चतर मूल्य का सबन्ध है। अत: क$_1$ यदि काम की प्राप्ति मे पर्याप्तता है और श$_1$ शक्ति की प्राप्ति मे पर्याप्तता नही है तथा इसी प्रकार अ$_1$, ध$_1$, भ$_1$ और म$_1$ मे कोई प्राप्ति पर्याप्त है और कोई नही है, तो इन सब कसोटियो के आधार पर उस मनुष्य को अच्छा या बुरा कहा जायगा।

इससे सिद्ध है कि मनुष्य के मूल्य-लाभ का मूल्याकन करने की छ कसोटियां हैं जो आपस मे विभिन्न अनुपात मे मिल सकती हैं। अत. मूल्य-लाभ की कसौटी अत्यन्त जटिल है। वह एकरेखीय या सरल नही है। वह

(घ) तारतम्य की मूल्यवत्ता

नीतिशास्त्र के इतिहास मे मूल्यो को हेतु-फलवाद के आधार पर रखा गया। सुखवादी सभी मूल्यो को दुख-सुख के तारतम्य मे रखते हैं। इनके मत से जो सुखद है वही मूल्यवान् है। धर्मवादी सभी मूल्यो को अधर्म-धर्म के तारतम्य मे रखते है। उनके मत से जो धर्म है वही मूल्यवान् है। धर्मवादी धर्म को हेतु और सुख को फल बताते हैं। इसके विपरीत सुखवादी सुख को हेतु तथा धर्म को फल बताते हैं। शकराचार्य ने सभी मूल्यो को पहले सुख के तारतम्य मे रखा है और बाद मे उसके आधार के रूप मे उन्होने धर्म-तारतम्य को स्वीकार किया है। इसके अनन्तर वे *धर्म के तारतम्य का* भी हेतु *अधिकारि-तारतम्य* को बताते हैं। इस प्रकार उसके मत से मूल्यो के तारतम्य का प्रमुखहेतु अधिकारि-तारतम्य है। अधिकारी पुरुष ही अपने अधिकृत मूल्य का लाभ कर सकते हैं। जिस व्यक्ति का जिस मूल्य मे जितना सस्कार है अथवा जिस व्यक्ति का जितना मूल्यबोध है उसको उतना ही अधिक या कम मूल्य-लाभ होगा।

मूल्यो को हेतु-फलवाद के अनुसार रखना एक दोष है जिसको आधुनिक अग्रेज दार्शनिक जार्ज एडवर्ड मूर ने प्रकृतिवादिता का दोष कहा है। धर्मवाद और सुखवाद मे यह दोष है। किन्तु शकराचार्य के मत मे यह दोष नही हैं क्योकि उन्होने हेतु-फलवाद के आधार के रूप मे मूल्यबोध के तारतम्य को अथवा उनके शब्दो मे कहें तो अधिकारि—तारतम्य को मान लिया है जो वास्तव मे साध्य-साधन के तारतम्य को आत्मसात् करने वाला ज्ञान है। अत शकराचार्य ने मूल्यो के जिस तारतम्य का का सकेत किया है[1] वह धर्मवाद और सुखवाद की अपेक्षा अधिक उचित और पर्याप्त है। यह विशुद्ध मूल्यात्मक कसौटी है।

---

[1] शारीरकभाष्य १।१।४।

इतना कहकर वे झट में ध्यान करने के लिए दूसरे कमरे में चले गये। पर उनकी आनन्दमीमांसा का अनुरणन हम लोगों के अन्तःकरण में होता रहा। मुझे तो ज्ञान-मीमांसा के समकक्ष आनन्द-मीमांसा का पदार्थ-पाठ मिला।

इस सलाप में आनन्द का तत्वदर्शन चित्रवत् स्पष्ट हो जाता है। स्पिनोजा सन्मात्र को परम तत्व या द्रव्य कहते हैं। हेगल चिन्मात्र को परम तत्व मानते हैं। इन दोनों से भिन्न गुरुदेव रानडे आनन्द को परमतत्व मानते हैं। हेगल ने स्पिनोजा के सद्रूप द्रव्य के बारे में कहा कि सत् को ज्ञाता (विषयी) भी होना चाहिए अन्यथा वह परम तत्व न हो सकेगा क्योंकि ज्ञाता न होने से वह विषय-मात्र है और इस कारण स्वतन्त्र न होकर ज्ञाता के नियन्त्रण में है। यद्यपि स्पिनोजा का द्रव्य अपना ज्ञाता है तथापि यहाँ ज्ञान सत् में तिरोहित-सा है। हेगल ने उक्त कथन द्वारा स्पिनोजा के परम सत को सच्चित् मानते हुए उसके चिदंश पर ही विशेष बल दिया। गुरुदेव रानडे ने हेगल के इस परम तत्व को भी परमतत्व के स्थान से च्युत कर दिया। जैसे सत् ज्ञान की अपेक्षा करता है वैसे ज्ञान आनन्द की। यदि सच्चित् स्वयं आनन्द है तब तो कोई बात ही नहीं है, तब तो वह आनन्द ही हुआ। पर यदि सच्चित् स्वयं आनन्द नहीं है तो वह आनन्द का साधन मात्र है और इस कारण आनन्दोन्मुख है। अतः सच्चित् की पूर्ण स्वतन्त्रता असिद्ध है। सच्चिदानन्द की ही पूर्ण स्वतन्त्रता है। पर इस सच्चिदानन्द में विशेष बल सत् या चित् पर न होकर आनन्द पर है। जैसे हेगल के सच्चित् के प्रत्यय में प्रधानता चित् (ज्ञान) की है वैसे गुरुदेव रानडे के सच्चिदानन्द के प्रत्यय में प्रधानता आनन्द की है। जैसे हेगल ने सत् का अन्तर्भाव चित् में किया और परमतत्व के रूप में चित् को ही मान्यता दी वैसे गुरुदेव रानडे ने सत् और चित् दोनों का अन्तर्भाव आनन्द में किया। इस प्रकार गुरुदेव रानडे का आनन्दवाद उतना ही सर्वांगपूर्ण तत्वदर्शन है जितना स्पिनोजा का द्रव्यवाद और हेगल का विज्ञानवाद (प्रत्ययवाद)। नहीं नहीं, लगता है कि जैसे स्पिनोजा का द्रव्यवाद हेगल के प्रत्ययवाद में निमग्न है वैसे हेगल का प्रत्ययवाद भी रानडे के आनन्दवाद में निमग्न है।

२ आनन्दवाद भारत का सनातन दर्शन है

बाद को कई बार मैंने रानडे से जिज्ञासा प्रकट की कि वे आनन्दवाद के तत्वदर्शन की स्पष्ट व्याख्या करें। इस पर उन्होंने कहा—"आनन्दवाद भारत का सनातन दर्शन है। सभी दर्शनों की मूल भित्ति आनन्दवाद है। पर उप-

होने की जरूरत है। पर जहाँ भी सच्चा रहस्यवाद है वहाँ इन तीन शक्तियो मे से किसी एक को अवश्य मुख्य रूप से प्रस्फुटित होना है। और जब तक हम किसी रहस्यवादी मे इन शक्तियो (ज्ञान, भावना, कर्म) मे से कम से कम एक का पूर्ण विकास न देख लें, तब तक हम नही कह सकते हैं कि वह रहस्यवादी नाम से अभिहित करने योग्य है[1] ।"

गुरुदेव रानडे सच्चे रहस्यवादी थे क्योकि वे प्रखर दार्शनिक थे। उनकी बौद्धिक शक्ति का परिपूर्ण विकास हुआ था। वे ज्ञानदेव, कबीर और सुन्दर-दास की भांति ज्ञानी सन्त थे, दार्शनिक और रहस्यवादी दोनो थे। यदि कोई रहस्यवादी बहुत कर्मठ नही है, कलाकार नही है, भावनामय जीवन नही बिताता और अन्त मे प्रखर बुद्धिवादी भी नही है तो उसके रहस्यवादी होने मे सन्देह है। स्पष्ट है कि गुरुदेव रानडे अधिक कर्मठ और भावनामय जीवन नही बिताते थे। वे एकान्तप्रेमी और ध्यानमार्गी थे। पर उनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर थी और वे सदैव दार्शनिक सर्जनाओ मे ही तल्लीन दीख पडते थे। यदि कर्म और भावना की तरह बुद्धि की भी प्रखरता और सक्रियता उनमे न होती, तो वे रहस्यवादी भी, ध्यानमार्गी भी, किस आधार पर होते ? गुरुदेव रानडे उन रहस्यवादियो मे से एक है जिनके रहस्यवाद की आधारशिला उच्चकोटि का दार्शनिक कृतित्व है। अत उनका रहस्यवाद उनके दर्शन को लक्षित करता है। अच्छी बात यह है कि आनन्दवाद ही उनका रहस्यवाद और दर्शन दोनो है। जिस आनन्द का वे मौन अनुभव करते ह उसी को वे दार्शनिक रूप भी देते ह। यदि रहस्यवाद किसी तत्वदर्शन को उत्पन्न करता है तो वह आनन्दवाद ही है क्योकि आनन्दवाद ही आनन्दानुभूति रूप रहस्य-वाद के अधिकाधिक समीप है।

दर्शन की ओर से देखा जाय तो गुरुदेव रानडे का तत्वदर्शन रहस्यवाद को निष्पन्न करता है। वे कहते हैं कि "किसी तत्त्वदार्शनिक सिद्धान्त की सच्चाई और प्रबलता का मानदण्ड यह है कि उसमे जीवन को कितना दिव्य और इस प्रकार कितना निर्वाह-योग्य बनाने की शक्ति है[2]।" इसके बाद वे फिर कहते हैं, "क्या तत्व है ? क्या आत्मन् है। इसके विषय मे कौन-सा बौद्धिक प्रत्ययन हो सकता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए उपनिषद् के दार्शनिक

---

[1] पाथवे टु गाड इन हिंदी लिटरेचर सामान्य भूमिका पृ० ४।

[2] ए कान्स्ट्रक्टिव सर्वे आव उपनिषदिक फिलासफी, पृ० ४४५।

को तत्वदर्शन के अन्तराल मे जाना पडेगा। और जब कोई बौद्धिक समाधान मिल जाय, तो दूसरा प्रश्न यह होगा कि उस ज्ञान को व्यवहार मे कैसे प्राप्त करना चाहिए, चरित्र का क्या मानदण्ड होना चाहिए जिसके पालन द्वारा कोई ईश्वरत्व को प्राप्त कर लें[1]।"

दर्शन बौद्धिक प्रत्ययन है। यह आवश्यक नही कि सभी दार्शनिक रहस्य-वादी हों। वे अर्थशास्त्रमूलक चिन्तन कर सकते हैं, या विज्ञान की समस्याओं पर विचार कर सकते हैं। पर ऐसे भी दार्शनिक है जो अपने चिन्तन मे अभेद तत्त्व को विशेष महत्व देते हैं। इन्ही दार्शनिकों का दर्शन अन्तत रहस्यवाद का रूप धारण करता है। जिस अभेद वस्तु का बौद्धिक प्रत्यय वे प्रथम प्राप्त करते हैं, उसी को वे अपने अनुभव और व्यवहार मे उतारते हैं। यही विविदिषा सन्यास मार्ग है। यही वह ज्ञानमार्ग है जो बुद्धि से आरम्भ कर अपरोक्षानुभूति तक विकसित होता है।

पर्यवसान को जो दार्शनिक अशक्य समझते हैं, उनके चिन्तन मे साहस का अभाव है, वे वाग्जाल पसन्द करते हैं, वे कथनी और करनी मे अन्तर रखते हैं, वे बुद्धि के द्वन्द्वों को शान्त करने की चेष्टा नही करते और इस कारण द्वन्द्वो के एक पार्श्व को छोडकर दूसरे पार्श्व को इदमित्थ मान लेते हैं अथवा दोनो से उदासीन होकर बुद्धि से नीचे इन्द्रियवाद मे उतर आते हैं। ये सभी अधकचरे दार्शनिक हैं और व्यर्थ मे गम्भीर चिन्तन का बहाना करते हैं।

रहस्यवाद और तत्वदर्शन के मार्मिक भेद को स्पष्ट करते हुए रानडे ने कहा—"रामानन्द ने ईश्वर—दर्शन को कारण और सकल भ्रम की निवृत्ति को कार्य माना है। यह ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का, दर्शन और रहस्यवाद का, विवाद-ग्रस्त विषय है। प्रथम के अनुसार ईश्वरदर्शन तब तक नही होगा जब तक कि उसके पूर्व सकल भ्रम-निवृत्ति न हो जाय। द्वितीय के अनुसार जब पहले ईश्वर-दर्शन हो जाता है, तभी सकल भ्रमो की निवृत्ति होती है। रामानन्द ने द्वितीय विकल्प को माना है[1]।"

इसी प्रश्न को उठाते हुए उन्होने फिर कहा—"भ्रमो का सक्रमण और आत्मसाक्षात्कार दोनो वस्तुओ का कैसा सम्बन्ध है? कौन कारण है और कौन कार्य? यह कहा जा सकता है कि दोनो उसी तरह अन्योन्याश्रित हैं जैसे एक ही सिक्के की दो पीठें। इसलिए एक के बिना दूसरे की प्राप्ति असम्भव है। इससे यदि दोनो की प्राप्ति होती है तो वह युगपद् (एकसाथ) ही होगी। मगर यदि हमे उपर्युक्त दो विकल्पो मे पसन्द करना हो तो हम कहेंगे कि केवल वही भ्रमो का सक्रमण करने योग्य होगा जिसने पहले आत्मसाक्षात्कार कर लिया हो और कोई दूसरा नही कर सकता[2]।"

यहाँ पर रानडे ने तत्वदर्शन और रहस्यवाद का भेद स्पष्ट किया और दोनो के समसमुच्चय की ओर भी संकेत किया, पर अपना मत अन्त मे रहस्यवाद बतलाया। इससे यह सिद्ध नही होता कि उनका तत्वदर्शन कुछ नही है और वे केवल रहस्यवादी हैं। वस्तुत यहाँ आत्मा के दर्शन को ही रहस्यवाद कहा गया है। यह आत्मदर्शन तत्वदर्शन और रहस्यवाद दोनो है। यह तत्वदर्शन है क्योंकि यहाँ परम तत्व का साक्षात्कार होता है। यह रहस्यवाद है क्योंकि यहाँ अपरोक्षानुभूति होती है।

---

[1] पाथवे टु गाड इन हिन्दी लिटरेचर पृ० १०३।

[2] वही पृ० १५।

स्पष्ट है कि रहस्यवादी को अपनी समाधि मे आनन्द ही मिलता है। उसके अनुभव के आधार पर आनन्द ही परमतत्व है।

(२) "उपनिषदो के अनुसार आत्म-साक्षात्कार का अनिवार्य सम्बन्ध आनन्द-लाभ से है। इस आनन्द को सुख (लौकिक सुख) और राग की मात्रा से नही नापा जा सकता है। यह अपने प्रकार का विलक्षण अनुभव है[1]।"

(३) सन्त ज्ञानदेव के अनुसार "आनन्द साधक के पास स्वयं आता है यह अपने प्रभाव मे इतना शक्तिशाली है कि इसको सुनने से ही सासारिक सत्ता लुप्त हो जाती है और नित्यता हमारे पास स्वयमेव आ जाती है[2]।" फिर, उनका कहना है कि "सच्चा आनन्द केवल आत्म-दर्शन मे ही मिलता है[3]।" इसी आनन्द को निरपेक्ष सत् या ब्रह्म कहा जाता है। हमे जो कुछ भी जब कभी भी किसी वस्तु के सयोग से आनन्द मिलता है वह इसी आनन्द का अश मात्र है। वह जड वस्तुओ से जन्य आनन्द नही है। वह सहज परम-तत्व रूप आनन्द है और विषयो के सान्निध्य से वैषयिक प्रतीत होता है। जिस किसी भक्ष्य पदार्थ के आस्वादन मे जो भी माधुर्य मिलता है वह गुड का ही माधुर्य है, न कि उन-उन पदार्थो का। सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसग्रह[4] मे इसी बात की बडी उत्तम व्याख्या की गई है—

आस्वाद्यते यो भक्ष्येषु सुखकृन्मधुरो रस ।
स गुडस्यैव नो तेषां माधुर्यं विद्यते क्वचित् ॥
तद्वद् विषयसांनिध्यादानन्दो यः प्रतीयते ।
बिंबानन्दांशस्फूर्तिरेवासौ न जडात्मनाम् ॥
यस्य कस्यापि योगेन यत्र कुत्रापि दृश्यते ।
आनन्दः स परस्यैव ब्रह्मण स्फूर्तिलक्षण ॥
यथा कुवलयोल्लासश्चन्द्रस्यैव प्रसादत ।
तथानन्दोदयोऽप्येषा स्फुरणादेव वस्तुन ॥

---

[1] कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी, संपादक राधाकृष्णन द्वितीय संस्करण पृ० ५५६।

[2] मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे पृ० १२१।

[3] वही पृ० १७५।

[4] शकराचार्य, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसग्रह, ६६९-६७२।

अर्थात्, भक्ष्य पदार्थों में जिस सुखकर मधुर रस का आस्वादन किया जाता है, वह गुड का ही रस है। भक्ष्य पदार्थों मे कभी माधुर्य रहता ही नही है। क्या माधुर्य का आस्वादन स्वादकर्त्ता के आश्रित नही है? क्या गुड का भी रस स्वादकर्त्ता आत्मा का रस नही है? यहाँ सभी रसो को पहले गुड का रस बनाया गया है। तदनन्तर गुड भी वस्तुजात मे आ जाने के कारण स्वय रसशून्य है और इसका रस भी आनन्दानुभूतिरूप आत्मा का ही रस है—यह व्यक्त करने का लक्ष्यार्थ है। इसी तरह, विषयो के सानिध्य से जो आनन्द मिलता है, वह मूल आनन्द (परमतत्व) का ही विस्फुरण है। वह जड वस्तुओं का गुण या परिणाम नही है। इससे सिद्ध होता है कि अन्तत गुड का माधुर्य भी परमतत्व आनन्द का ही विस्फुरण है। जिस किसी वस्तु के सम्बन्ध मे जहाँ कहीं भी आनन्द देखा जाता है, वह स्फूर्तिलक्षण आनन्द परमतत्व (आनन्द) का ही है। जैसे कुमुदिनियो का उल्लास (स्फूर्ति) चन्द्रमा के प्रसाद (प्रसन्नता, स्फूर्ति) मे उदय होता है वैसे समस्त वस्तुओ का आनन्दोदय परम आनन्दरूप वस्तु का ही स्फुरण है।

(४) सन्त दादू के पद "राम रस मीठा रे" की व्याख्या करते हुए रानडे ने कहा कि दादू ने "सो रस ही रहा समाय" कहकर बडा महत्वपूर्ण ज्ञान दिया है। दादू के कथन का अभिप्राय है कि भगवान् और भक्त अन्ततोगत्वा नही रहते, सब केवल रस ही रहता है। उपनिषद् भी "रसो वै स" कहकर इसी को व्यक्त करते हैं। इस रसवाद का अन्तिम निष्कर्ष यही होगा कि केवल रस ही परमतत्व है, रस के आदाता (भोक्ता) और प्रदाता दोनो अनित्य है[1]।

इसका आशय हुआ कि रहस्यवादी को आनन्द ही परम तत्व है, यह अनुभव होता है। वह आनन्द के भोक्ता और दाता दोनो को इस आनन्द मे लय होते देखता है।

(५) सन्त मीरा के निम्नलिखित अनुभव मे रानडे को आनन्द तत्व ही परम तत्व ज्ञात हुआ—

> आनन्द नहाया, बन्दा खुदा, दोनो बिसर गया।
> ये नाम का नाम होकर, रहटाना राहा[2]॥

---

[1] पाथवे टु गाड इन हिन्दी लिटरेचर पृ० २३०-२३१।

[2] वही पृ० २३६।

इस प्रकार शब्द प्रमाण की चर्चा छोड कर स्वानुभूति के बल पर यह सिद्ध होता है कि आनन्द ही परमतत्व है। अब देखना है कि बुद्धि को वह कहाँ तक ग्राह्य है।

४ आनन्दवाद के लिए बौद्धिक युक्तियाँ

सामान्य मानवो के अनुभव मे भी ऐसे प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि आनन्द परमतत्व है। इन प्रमाणो मे से निम्नलिखित उल्लेखयोग्य है—

(१) सभी देहियो को इष्ट वस्तु के ध्यान, दर्शन आदि से तथा उपभोग मे आनन्द की प्रतीति होती है[1]। यह आनन्द वस्तुओ का गुण नही है क्योकि यह मन मे उपलब्ध होता है। यदि यह वस्तुओ का गुण होता तो मन मे कैसे उपलब्ध होता[2] ? फिर, यह मन का भी गुण नही है क्योकि इष्ट वस्तु के न मिलने पर यह मन मे उपलब्ध नही होता[3] ? आत्मा का भी यह गुण नही है क्योकि आत्मा तो निर्गुण है[4]। अत आनन्द गुण नही है। यह साक्षात आत्मा ही है।

(२) सामान्य लोगो के अनुभव मे दो प्रकार का आनन्द आता है। एक प्रकार का आनन्द सावधिक है और दूसरे प्रकार का निरवधिक। प्राय सावधिक आनन्द उपलब्ध होता रहता है। यह आता जाता रहता है। यह आगन्तुक और क्षयिष्णु है। विभिन्न सावधिक आनन्दो मे तारतम्य भी सबको दीख पडता है। कोई सावधिक आनन्द विशुद्ध नही रहता है। भोग और भोगान्त दोनो समयो मे यह दुःख से संपृक्त रहता है। इसका उपभोग करके भी आनन्द के उपभोग की इच्छा अतृप्त रहती है।

सावधिक आनन्द के इन प्रत्यक्ष अनुभवो से प्रत्येक मनुष्य निरवधिक आनन्द की तर्कना करता है। वह इस आनन्द को निरतिशय आनन्द की संज्ञा

---

[1] इष्टस्य वस्तुनो ध्यानदर्शनाद्य‌ुपभुक्तिषु।
प्रतीयते य आनन्द सर्वेषामिह देहिनाम्॥ —सर्ववेदान्तसिद्धान्त सारसंग्रह ६४०।

[2] स वस्तुधर्मो नो यस्मान्मनस्येवोपलभ्यते।
वस्तुधर्मस्य कथं स्यादुपलम्भनम्, —वही श्लोक ६४१।

[3] नाप्येष धर्मो मनसोऽसत्यर्थे तददर्शनात्। —वही श्लोक ६४३।

[4] तस्मान्न मानसो धर्मो निर्गुणत्वान्न चात्मन।—वही श्लोक ६४६।

देता है और इसे निरवधिक अर्थात् नित्य मानता है। इसी को वह प्राप्त कर कृतकृत्य होना चाहता है। इसकी कल्पना मात्र से उसे इतना आनन्द मिलता है कि वह इसे मुख्य या मूल आनन्द की संज्ञा देता है और अपने सावधिक आनन्दो को केवल गौण, आभास या प्रतिबिंब मात्र मानता है। वह तर्क करता है कि क्या आभास या प्रतिबिंब अपने मूल बिम्ब को लक्षित नही करता? क्या सातिशय और सावधिक आनन्दो का तारतम्य निरवधिक और निरतिशय आनन्द को लक्षित नहीं करता?

यही नही, निरतिशय आनन्द की कल्पना करके मनुष्य सोचता है कि उसका सातिशय क्षयिष्णु आनन्द वस्तुतः आनन्द नही है। वह इतना अल्प है कि उसे आनन्द नही कहा जा सकता। फिर यह दुःखसपृक्त और दुःखावसायी है। इससे भी उसे आनन्द कहना अनुपयुक्त है। आनन्द तो वही हो सकता है जो अजर-अमर और अनन्त हो। उसी को प्राप्त करना है। छान्दोग्योपनिषद् मे इसी मानवी विनिगमना का अच्छा विवरण है—

यो वै भूमा तद् सुखं नाल्पे सुखमस्ति।
भूमैव सुखं। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति[1]।

अर्थात्

जो निश्चित ही अनन्त है वही सुख है। अल्प वस्तु मे सुख नही है। भूमन् सुख है। भूमन् को ही अतएव जानना चाहिए। (यदि सुख पाना हो तो।)

इस प्रकार परिमित सुख के लिए आनन्दपद का व्यवहार नहीं होता है। अपरिमित तथा नित्य सुख ही आनन्द है। सभी प्राणियों को जो सातिशय क्षयिष्णु आनन्द मिलता रहता है वह वस्तुत इसी का विस्फुरण मात्र है। बृहदारण्यकोपनिषद्[2] मे इसी की अभिव्यक्ति की गयी है—एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति अर्थात् इसी आनन्द की मात्रा मात्र (विस्फुरण मात्र) से सभी प्राणी जीते हैं।

---

[1] छान्दोग्योपनिषद्—७, २३, १।

[2] बृहदारण्यकोनिषद्—४, ३, ३२।

(३) क्रिया या कर्म की दृष्टि मे देखने पर भी सुख परम तत्त्व सिद्ध होता है। छान्दोग्योपनिषत्[1] मे इस लोकानुभव को अच्छे शब्दो मे बतलाया गया है —

यदा वै सुख लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वा करोति।
सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति।

अर्थात्

कोई प्राणी जब सुख पाता है, तभी वह क्रिया करता है। असुख पाकर कोई कर्म नही करता। सुख पाकर ही वह कर्म करता है। अत सुख को ही जानना चाहिए।

इसी युक्ति को गुरुदेव रानडे ने यों प्रस्तुत किया है —

"सुख सभी प्रकार की कृति का उत्स है। कृति निष्ठा का कारण है। निष्ठा श्रद्धा का कारण है। जब कोई श्रद्धा करता है तो वह मनन करता है। जब वह मनन करता है तो वह विज्ञान प्राप्त करता है। जब वह जानता (विज्ञान प्राप्त करता है) तो वह सत्य को पाता है[2]।

तत्त्वदर्शन की दृष्टि मे यह अवतरण अत्यन्त उल्लेखयोग्य है। आधुनि[क] युग मे उपयोगवादी दार्शनिक (Pragmatic Philosophers) ने यह दिखला[ने] का प्रयास किया है कि कृति (क्रिया) मौलिक तत्व है। धर्म, श्रद्धा, म[ति] विज्ञान तथा सत्य इसी मे नियन्त्रित हैं। ये किसी न किसी प्रकार की क[ृति] से ही आविर्भूत होते हैं। उपनिषद के दार्शनिक सनत्कुमार की भा[ँति] रानडे इस बात पर जोर देते हैं कि कृति (क्रिया) का भी उत्स [सुख] (आनन्द) है। आनन्द के बिना कृति हो ही नहीं सकती। अत आनन्द[वाद] उपयोगवाद (Pragmatism) तथा अन्य कृतिवाद का भी आधार है।

(४) प्रेम की दृष्टि से देखने पर भी आनन्द परमतत्त्व सिद्ध होता है।

सुख के हेतुओं में सब का प्रेम सावधिक देखा जाता है। प्राणियों [का] अपनी आत्मा के प्रति प्रेम कभी भी सावधिक नहीं होता। क्षीणेन्द्रिय [हो], क्षीण हो, मरणासन्न हो, फिर भी प्राणियों को जीने की आशा रहती है। इसलिये आत्मा ही प्रियतम मानी गयी है। आत्मा ही सभी शरीरधारियों [को]

---

[1] छान्दोग्योपनिषद् ७ १२ ११।

[2] कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आव उपनिषदिक फिलासफी पृ० ५३।

परम प्रेमास्पद है। इसी का अंग होने के कारण सब कुछ उपादेय (उपयोगी) होता है। यही आत्मा पुत्र से, धन से, अन्य सभी वस्तुओ से अधिक प्रिय है। प्रिय रूप से ही वही माना जा सकता है जो मनुष्यो को कभी भी अप्रिय न हो, जो सपत्ति और विपत्ति मे समान् रूप से प्रिय हो। ऐसी वस्तु केवल आत्मा है। अत' वही प्रिय है या प्रेष्ठ (सबसे प्रिय) है। सभी प्रवृत्तियाँ, निवृत्तियाँ या चेष्टाएँ इसी आत्मा के लिए ही की जाती हैं, अन्य वस्तु के लिए नही। अत इस कारण से भी आत्मा प्रियतम है[1]। फिर यह प्रियतम अथवा परमप्रेमास्पद होने के कारण सुखरूप है[2]। और सुखरूप होने के कारण आनन्द ही है[3]।

इसी कारण आनन्द को निरुपाधिक इष्टता कहा जाता है। यह निरुपाधिक या निरवधिक अभीष्टता या प्रेम है।

(५) यदि आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण मनोविज्ञान की दृष्टि से किया जाय तो ज्ञात होगा कि आनन्द ही आत्मा है। आत्मा क्या है? यह वह

---

[1] सुखहेतुषु सर्वेषां प्रीतिः सावधिरीच्यते।
कदापि नावधिः प्रीतेः स्वात्मनि प्राणिनां क्वचित्॥
क्षीणेन्द्रियस्य जीर्णस्य संप्राप्तोत्क्रमणस्य वा।
अस्ति जीवितुमेवाशा स्वात्मा प्रियतमो यतः॥
आत्मातः परमप्रेमास्पदः सर्वशरीरिणाम्।
यस्य शेषतया सर्वमुपादेयत्वमृच्छति॥
एष एव प्रियतमः पुत्रादपि धनादपि।
अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तरः॥
प्रियत्वेन मतं यत्तु तत्सदा नाप्रियं नृणाम्।
विपत्तावपि संपत्तौ यथात्मा न तथापर.।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम्।
आत्मार्थमेव नान्यार्थं नात प्रियतम पर'।

× × ×

तस्मादात्मा केवलानन्दरूपो य सर्वस्माद्वस्तुन प्रेष्ठ उक्त।
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ६२४—६३१।

[2] परमप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मन.। वही ६२२।

[3] आत्मन सुखरूपत्वादानन्दत्व स्वलक्षणम्। वही ६२३।

अव्यभिचारी तत्व है जो सभी वृत्तियो का साक्षी है। जाग्रत और स्वप्न मे नाना वृत्तियाँ रहती है। सुषुप्ति मे कोई भी वृत्ति नही रहती। यदि वृत्ति मात्र के साक्षी को ही आत्मा माना जाय तो सुषुप्ति मे आत्मा का अभाव सिद्ध होगा। वैसा होने पर सोने के पूर्व और सोने के बाद की वृत्तियो का समीकरण (तुलनादि) असभव हो जायगा। व्यक्तित्व की एकता भी असिद्ध हो जायगी। स्मृति असभव होगी। अत' इन सब दोषो को दूर करने के लिए सुषुप्ति मे आत्मा के अस्तित्व को मानना पडता हे। पर वहाँ वृत्तियो का अभाव हे। अत यह भी सिद्ध होता है कि आत्मा वृत्ति-सापेक्ष नही है।

सुषुप्ति मे सोने वाला केवल आनन्द की अनुभूति करता है। जागने पर वह अपने अनुभव को व्यक्त भी करता है—मैं सुखपूर्वक सो गया था। बेचैन होने पर मनुष्य कह भी उठता है—मुझे आराम करने दो और इसलिए सो जाने दो। इन अनुभवो से सिद्ध है कि सुषुप्ति मे आनन्दानुभूति ही रहती है। अत वही आत्मा है। जाग्रत और स्वप्न मे भी वही विद्यमान रहती है यद्यपि इन अवस्थाओ मे वह वृत्तियो की साक्षी भी है। पर जहाँ वृत्तियाँ आगन्तुक और क्षयिष्णु है वहाँ आनन्दानुभूति स्वप्न तथा जाग्रत और सुषुप्ति मे सर्वदा विद्यमान रहती है।

आनद को परमतत्व सिद्ध करने वाली सभी युक्तियो को हमने निम्न श्लोक मे व्यक्त किया है —

मानमानन्दसद्भावे नैसर्गिक्येव तत्स्पृहा।
सशोधिता मतिश्चापि सतामनुभवस्तथा[1] ॥

अर्थात् आनन्द के अस्तित्व मे तीन प्रमाण हैं—आनन्द के लिए नैसर्गिक स्पृहा, सशोधित मति और सतो का अनुभव।

५ आनन्द के स्वरूप पर शङ्का और उसका समाधान

आनन्द को परम तत्व न मानते हुए व्यासतीर्थ ने अपने न्यायामृत मे आनन्द की आलोचना की है। उनका कहना है कि आनन्द की विचारणा हम निम्नलिखित आठ प्रकार से कर सकते हैं—

[1] द्रष्टव्य नव्य प्रयागदर्शनम्, दर्शन-पीठ इलाहाबाद पृ० ३।

[2] द्रष्टव्य अद्वैतसिद्धि (मधुसूदन सरस्वती) ज्ञानत्वाद्युपपत्ति-अधिकरण।

१ आनन्द जाति विशेष अर्थात् एक सामान्य प्रत्यय है।

२ आनन्द अनुकूलतापूर्वक वेदनीय विषय है।

३ आनन्द अनुकूल वेदना ही है।

४. आनन्द अनुकूलता मात्र है।

५ आनन्द ज्ञानात्मक है अर्थात् आनन्द ज्ञान है।

६ आनन्द दु:ख का निरोध है।

७ आनन्द दु:ख के अभाव से उपलक्षित कोई वस्तु है।

८ आनन्द परांगीकृत है—अर्थात् किसी वस्तु का अंग या विशेषण है।

किन्तु इनमें से एक भी मत ठीक नहीं है। देखिए—

१ आनन्द कोई जाति विशेष या सामान्य प्रत्यय नहीं हो सकता क्योंकि आनन्द को अखण्डस्वरूप माना जाता है। अखण्डस्वरूप आनन्द की कोई जाति हो ही नहीं सकती।

२ आनन्द अनुकूलतापूर्वक वेदनीय विषय नहीं हो सकता, क्योंकि आनन्दानुभूति में अनुभवकर्त्ता का अभाव बतलाया जाता है और इसे अवेद्य (अविषय) भी कहा जाता है। फिर, अनुकूलता को किसी वस्तु की अपेक्षा रहती है। पर वादी के मत में आनन्द को अपने से भिन्न किसी वस्तु की अपेक्षा हो ही नहीं सकती, क्योंकि आनन्द से भिन्न कोई वस्तु स्वीकृत ही नहीं है। पर अगर कहा जाय कि आनन्द अपने प्रति ही सापेक्ष होकर अनुकूलता को सिद्ध करता है, तो नहीं बनेगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में आनन्द सखण्ड और सविशेष हो जायगा जो वादी को स्वीकार नहीं है। अत. आनन्द अनुकूलतापूर्वक वेदनीय विषय नहीं हो सकता।

३ उपर्युक्त कारण से आनन्द अनुकूलवेदना भी नहीं है। अन्य कारण, अनुकूल वेदना होने पर अधिक अनुकूलता होने से आनन्द को भी अधिक होना पड़ेगा। यदि आनन्द का अधिक होना स्वाभाविक है तो फिर वह सविशेष होगा। पर सविशेष आनन्द वादी को मान्य नहीं। यदि आनन्द का अधिक होना औपाधिक है, तो किसी स्थिति में आनन्दमात्र की निवृत्ति हो जायगी। पर यह तो वादी को स्वीकार ही नहीं हो सकता। अत आनन्द अनुकूल वेदना नहीं है।

४ चूँकि ऊपर अनुकूलता का ही आनन्द के साथ असामजस्य देख लिया गया है, इसलिए आनन्द अनुकूलतामात्र भी नही हो सकता। इस प्रकार आनन्द निरुपाधिक इष्टता भी नही हो सकता क्योकि वह अनुकूलता का ही आधिक्य है।

५. आनन्द ज्ञानात्मक नही हो सकता क्योकि तब दु खादि का ज्ञान भी आनन्द हो जायगा। यदि कहा जाय कि ज्ञान विषयानुल्लेखि (विषयो से असग या अलिखित) है, तो ठीक नही है। ज्ञान सविषय होता है। अतएव वह अपने विषय से लिखित भी है।

६ आनन्द दु ख का अभाव (निरोध) भी नही हो सकता, क्योकि यदि आनन्द दु ख का अभाव है और वही एकमात्र सत्य है जैसा कि वादी कहता है तो फिर दु ख को नित्य निवृत्त होना पडेगा। पर ऐसा अनुभव से असिद्ध है। फिर, यदि आनन्द दु ख का निरोध हैं तो उसे पटादि मे भी वर्तमान होना पडेगा क्योकि उनमे भी दु ख का अभाव है।

७. आनन्द को दु ख के अभाव से उपलक्षित मानने पर यह अपुरुषार्थ हो जायगा। दु खाभावोपलक्षित परम अर्थ नही हो सकता क्योकि वह विधायक नहीं है। निषेध के लिए कोई क्यो कार्य करेगा? अत आनन्द को ऐसा मानने पर वह पुरुषार्थ (Value) न हो सकेगा। वैशेषिक मुक्ति की भाँति तब आनन्द भी प्रतिषेधमात्र होगा।

८ यदि आनन्द को अग या विशेषण माना जाय तो उसे सविशेष, सखण्ड अनुभवकर्ता से भिन्न, आदि मानना पडेगा जो वादी को मान्य नही। अतएव आनन्द परागीत्व (गोण) नही हो सकता।

इस प्रकार अद्वैतवादी आनन्द का निर्वचन असभव है। अत यह व्यर्थ है[1]।

इन शकाओ का उत्तर मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि मे अच्छे ढग से दिया है। उनका निष्कर्ष है कि आनन्द परमप्रेमास्पद के रूप से वेद्य है, सुख वेदना मे भेद नहीं है, वेदनारूप होने के कारण असुखत्व अनुपपन्न है[2]।

---

[1] द्रष्टव्य वही।

[2] परमप्रेमास्पदत्वेन वेद्यत्वात्, सुखवेदनभेदाभावात्, वेदनाभावेन असुखत्वापादानुपपत्ते वही।

व्यासतीर्थ ने आनन्द को भावना विशेष या प्रत्यय विशेष के रूप मे जानने की कोशिश की है। आनन्द मनोवृत्ति नहीं है। यदि वह मनोवृत्ति होता तो व्यासतीर्थ की आलोचना ठीक थी। पर वह ऐसा है नहीं। अतएव व्यासतीर्थ की आलोचना अर्थान्तरकल्पना (Ignoratio Elenchi) दोष से युक्त है। छठें विकल्प को छोड कर अन्य सभी विकल्पो की आलोचना वादी को मान्य है। वादी स्वय चाहता है कि आनन्द का ग्रहण इन-इन विकल्पो से न किया जाय। इसलिए वह कहता है कि यहाँ तक व्यासतीर्थ ठीक हैं। पर जब वे कहते हैं कि आनन्द ज्ञानात्मक नहीं है तो वे भयकर भूल करते हैं। उन्होने ज्ञान को सर्वदा सविषय ही माना है। पर यह कोई नियम नहीं है। ज्ञान अविषय भी होता है, वह अपरोक्ष भी होता है, वह वेदनामात्र भी है। आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान ऐसा ही अविषय ज्ञान है। यह ज्ञान विषयानुल्लेखि है। इसी ज्ञान की भूमिका मे सभी विषय होते हैं। अर्थात् आत्मा विषयानुल्लेखि है और विषय आत्मपूर्वक है।

अगर कहा जाय कि आनन्द को ज्ञानात्मक मान लेने पर दुःख भी आनन्द होगा, तो ठीक नहीं है। दुःख और सुख (परिमित सुख) स्वयमेव आनन्द नहीं हैं। इन दोनों का ज्ञान चिदात्मक होने से आनन्द हैं। गौडब्रह्मानन्दीकार ब्रह्मानन्द सरस्वती ने ठीक कहा है—

विषयानुल्लेखिज्ञान स्वसमसत्ताको विषयसम्बन्धो यत्र तदन्यो ज्ञानपदप्रयोग-विषय । दुःखज्ञानमपि चिदात्मकत्वात् आनन्द एव ।

फिर, दुःखाभाव का ज्ञान भी चिदात्मक होने से आनन्द है। वह (दुःखाभाव) स्वसुख है। दुःखाभावस्यापि सुखशेषत्वात्[1]।

विषयानुल्लेखिज्ञान और आनन्द एकार्थक होने के कारण अभिन्न हैं।

> प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः
> अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः[2] ॥

अर्थात्

प्रत्यग्बोध अद्वयानन्द है और अद्वयानन्द प्रत्यग्बोध है।

इस 'सर्वं बोधः, बोध एव सत्।' इस सिद्धान्त को ज्ञानमीमांसा का परम

---

[1] वही।

[2] वाक्यवृत्ति, शंकराचार्य, श्लोक ३६।

में लेते हैं[1]। प्रथम आकाश सम्भूत होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप्, अप् से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ, ओषधियो से अन्न और अन्न से अन्नरसमय पुरुष सभूत होता है[2]। आकाश भी आनन्दात्मक है अन्यथा इसका प्राणन, गति करना या अवकाश देना असम्भव हो जाय। इसी प्रकार प्रत्येक सभूत पदार्थ आनन्दात्मक है।

सभी पदार्थो को आनन्दात्मक मानने के ही कारण साख्य दर्शन मे समस्त पदार्थो की जननी प्रकृति को सुखरूप सत्त्वगुण, दुखरूप रजोगुण और मोहरूप तमोगुण की साम्यावस्था कहा जाता है। सुख, दुख और मोह की साम्यावस्था से आनन्द को लक्षित किया जाता है। प्रकृति भोग्य वस्तु है—ऐसा साख्यक मानता है। इसलिए उसे कहना चाहिए था कि प्रकृति भोगात्मक (आनन्दात्मक) है। पर उसने आनन्द को वेदना रूप से समझने के बजाय अनुकूलता रूप से लिया और फिर प्रकृति को भोक्ता के आनुकूल्य (साम्य) कहने के बजाय इसको अपने मे ही साम्य माना। इन दृष्टियो के कारण प्रकृति को भोग्य मानते हुए भी उसने इसे भोक्ता (पुरुष) से अनन्य नहीं माना। पर ये दृष्टियाँ भ्रान्त हैं। अतएव प्रकृति को आनन्दात्मक ही कहना युक्तिसगत है।

भोग्य वस्तु इस प्रकार भोक्ता सेभिन्न स्वीकृत है यद्यपि अन्य नही। पर इस भिन्नता का अर्थ यह नही है कि भोग्य भोक्ता से भिन्न रहता है। वह भिन्न रह सकता है। वस्तुत भोक्ता से निरपेक्ष होकर भोग्य क्या है? क्या वह सत्य है? या असत्य है? या उभय है?

इस प्रश्नावली का उचित उत्तर तुलसीदास की निम्नलिखित पक्तियाँ देती हैं—

> कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
> तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम जो आपुहि पहिचानै[3]।

इस प्रकार तुलसीदास के अनुसार जगत् को सत्य, असत्य या दोनो मानना भ्रम है। आत्मज्ञान होने पर इन तीनो भ्रम का निराकरण होता है। यहाँ इसका दो अर्थ हो सकता है। एक अर्थ तो यह है कि जगत् के बारे में सभी तत्त्वदार्शनिक धारणाएँ भ्रम हैं और जगत् भी भ्रम है। दूसरा का अर्थ हो

१ ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ् उपनिषदिक फिलासफी पृ० ६८।
२ द्रष्टव्य तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१
३ तुलसीदास, विनयपत्रिका, १११।

ऐसा काश्मीर शैवमत का सिद्धान्त है जो एक प्रकार का अद्वैतवाद ही है। सामरस्य समरस आनन्द का ही सहवर्ती है यद्यपि वह आनन्द-सापेक्ष है। दोनों का यौगपद्य ही आनन्द है। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य, वाचस्पति आदि अद्वैतवेदांतियों की तरह हम आनन्द को आत्मा का परम लक्षण मानते हुए जगत् को उससे अनन्य मान सकते हैं। जगत् की ओर से इस अनन्यता का अर्थ अनिर्वचनीयता होगा। अनन्यता का सम्बन्ध आनन्द (ब्रह्म) की दृष्टि से है। अनिर्वचनीयता का अर्थ सत्यासत्यविलक्षण मात्र है। इस प्रकार आनन्दवादी तत्त्वदर्शन में जगद्विषयक कई मत सम्भव हैं। परन्तु आनन्दवादी जगद्-विषयक चिन्तन को थोथा चिन्तन कहते हैं और वे इसमें रुचि नहीं लेते हैं।

७ सत् और ज्ञान का आनन्द में अन्तर्भाव

(क) आनन्दवादी तत्त्वदर्शन आनन्द की वही परिभाषा देता है जिसे अद्वैत-वेदांतियों ने दिया है। "आनन्द का प्रत्ययन मनोवैज्ञानिक नहीं है, आनन्द कोई मनोवृत्ति नहीं है। यह तत्त्वदार्शनिक बोध है। सत् की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम आनन्द है"[1]। अत सत् का अन्तर्भाव आनन्द में हो जाता है।

गुरुदेव रानडे ने इसी बात को निम्नलिखित अवतरणों में स्पष्ट किया है।

(१) "सत्ता का मूल स्रोत प्रातिभ आनन्द ही को मानना उपयुक्त है"[2] और

(२) "सभी वस्तुओं का उत्स आनन्दानुभूति हो सकती है"[3]।

बौद्धिक विवेचना करने पर ज्ञात होगा कि इन अवतरणों में जो सिद्धान्त व्यक्त है वह यह है कि सभी वस्तुओं की सत्ता उनके प्राणन पर निर्भर है। यह प्राणन बर्गसाँ का एलान वाइटल है। पर इस प्राणन की सत्ता भी इस पर निर्भर है। यह आनन्दित होने के कारण ही प्राणन करता है। इस प्रकार आनन्दानुभूति सभी वस्तुओं की प्रतिष्ठा है। उसी का अस्तित्व परम है। अन्य वस्तुओं का अस्तित्व इसलिए है कि उनमें उसका ही कुछ अंश रहता है—एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

---

[1] कम्परेटिव स्टडीज इन वेदान्त, एम० एन० सरकार पृ ३०-३२

[2] ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ् उपनिषदिक फिलासफी पृ० ११४।

[3] वही पृ० ११५।

आनन्दमीमासा की दृष्टि से इसकी व्याख्या यो हो सकती है। आनन्द परम पुरुषार्थ या मूल्य है। अन्य मूल्यो मे आनन्द का ही विस्फुरण है। सत् कही जाने वाली वस्तुओ मे भी यही मूल्य है। अर्थात् मूल्य होने के कारण, पुरुषार्थ के साधन होने के कारण ही आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ की सत्ता है। अत उनकी सत्ता आनन्दरूपी परम मूल्य से अनुविद्ध है।

ज्ञानमीमासा की दृष्टि से सभी वस्तुओ की सत्ता आत्मा से अव्यतिरिक्त है। इस आत्मा की सत्ता भी आत्मा से अव्यतिरिक्त है। अत यही आनन्द परम सत् है। अन्य जो कुछ भी सत् है वह इसी आनन्द का उपभोग होने के कारण सत् है।

इस प्रकार सत्ता आनन्दात्मक है।

(ख) ज्ञान दो प्रकार का होता है—निर्विषय और सविषय। निर्विषय ज्ञान आनन्दानुभूति है। यह अपरोक्षानुभूति है। सुप्ति मे इसी का अनुभव सबको होता है। उदात्तत्व की अनुभूति मे इसी का कुछ स्पष्टतर अनुभव उदात्तत्वविदो को होता है। सौन्दर्य और भक्ति का अनुभव भी इसी के अन्तर्गत है। जीवन के सामान्य भाव भी अपरोक्षानुभूति द्वारा वेदनीय होते है। सभी भावो का आकारक आनन्दानुभूति है। वैसे सभी ज्ञानो मे अपरोक्षानुभूति है पर उदात्तत्व का ज्ञान सबसे अधिक अपरोक्ष होने के कारण सर्वाधिक आनन्दाकारक है।

सविषय ज्ञान भी आनन्दाकारक होने के कारण आनन्द से अनुप्रविष्ट है। आनन्द प्रत्यग्बोध है। उसके बिना कोई वृत्ति या विषय सम्भव नही है। इसलिए आनन्दरूप बोध को वृत्ति का सवस्व कहा जाता है। फिर, विषय के ज्ञान का प्रधान प्रयोजन आनन्द-लाभ रहता है। अत. इस दृष्टि से भी सविषय ज्ञान आनन्दानुभूति पर प्रतिष्ठित है।

प्रातिभज्ञान बुद्धि, भावना और इच्छा का मूल है, न कि विरोधी। इस तरह प्रातिभज्ञान समस्त प्रत्ययो, भावनाओ और इच्छाओ का मूल है। इस अर्थ मे इन सब का अन्तर्भाव प्रातिभज्ञान मे होता है।

इस तरह सभी विषयो और ज्ञानो का अन्तर्भाव आनन्दानुभूति मे होता है। इस भाव को हमने निम्न श्लोक मे वक्तव्य किया है—

आनन्द परम तत्त्वमतात्विकमथेतरत्।
आनन्दस्तत्त्वमस्तित्वं ज्ञान चानन्दभातता[1]।

---

[1] द्रष्टव्य हमारी पुस्तक नव्य प्रयागदर्शनम् पृ० ३।

यह अन्तर्भाव दो प्रकार का होता है, एक अभेद रूप है और दूसरा बाध रूप है। अभेद-रूप अन्तर्भाव का मतलब है कि ज्ञान और सत् के समस्त प्रकारों में जो अव्यभिचारी आनन्दरूप आत्मा है उसी में उनका लय हो जाता है। लय से आशय अभेद-प्राप्ति है। बाधरूप अन्तर्भाव का मतलब है कि सत् और ज्ञान के समस्त प्रकारों में जो अंश आनन्दरूप आत्मा के अतिरिक्त हैं, उनका बाध लय के साथ ही हो जाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब आनन्दवाद में एकमात्र सत्य आनन्दरूप आत्मा है तो फिर जीव-जगत्-रूप से तमाम सत् और ज्ञानों का समूह कहाँ से आ गया ? उत्तर यह है कि यह सब आनन्द का स्फुरण है। उसका स्वभाव ही स्फुरण करना है। यह स्फुरण वर्गसा के प्राणन की तरह है। पुनश्च सभी विषयों में आनन्द व्याप्त है और इस कारण सभी आनन्द का ही विक्रीडन है[1]।

८ आनन्दवाद का पुनर्मूल्यांकन

१ आनन्दवादी तत्वदर्शन परमार्थ-चिन्तन है, न कि सृष्टि-चिन्तन। पाश्चात्यदर्शन की भाषा में यह मूल्यमीमांसा (axiology) है। वर्तमान युग में परमार्थ-चिन्तन की बड़ी आवश्यकता है। इस युग में सृष्टि-चिन्तन बहुत विकसित हो गया है। इसमें परमार्थ-चिन्तन की उपेक्षा बढ़ती जा रही है। किन्तु यह उपेक्षा घातक है और इसको दूर करना आवश्यक है।

२ परमार्थ-चिन्तन के बारे में लोगों में भ्रान्त धारणाएँ हैं। आनन्दवादियों ने परमार्थ-चिन्तन को ही सर्वस्व और सृष्टि-चिन्तन को व्यर्थ मानते हुए एक सिद्धान्त दिया है जो प्रचलित सृष्टि-चिन्तकों के मत का ठीक उल्टा है। हमें इस मत पर विचार करना है।

आनन्दवाद आनन्द को परम अर्थ या मूल्य मानता है। आनन्द के अतिरिक्त और कुछ परम अर्थ नहीं हो सकता। वही एक उपेय है। अन्य तदाश्रित मूल्य उपाय हैं। आनन्द से ही उपायरूप से सम्बन्धित होने के कारण वे भी अर्थ हैं, मूल्य हैं। इस प्रकार आनन्दवाद आधुनिक मूल्यमीमांसा का स्वरूप सिद्धान्त है।

परमार्थ-चिन्तन के बारे में लोगों में भ्रान्त धारणाएँ हैं। वे मोक्ष या मुक्ति, ईश्वर, प्रकृति आदि तत्त्वों की चर्चा करना परमार्थ समझते हैं। कुछ

---

[1] आनन्देषु व्याप्ततया, सर्वस्यानन्दता मता। वही २६।

लोग परमार्थ-चिन्तन को ढकोसला मानते हैं। मोक्ष का तो इस युग मे उपहास किया जाता है। ईश्वर को भी कुछ लोग मृत घोषित कर चुके हैं, उदाहरणार्थ नीट्शे। ऐसी परिस्थिति मे यह आवश्यक है कि परमार्थ-चिन्तन के असली रूप को खोज कर विचारको के समक्ष रखा जाय। आनन्दवाद परमार्थ-चिन्तन का असली रूप है। मोक्ष, अपवर्ग, मुक्ति आदि शब्दो का अर्थ केवल आनन्द-लाभ है। इस समय आनन्दवाद परमार्थ-चिन्तको को एक करता है। इसमे कुछ लाभ हैं। पहला, मोक्ष, अपवर्ग मुक्ति, स्वर्ग आदि शब्दो का अनर्थ प्रचलित है। आनन्द का अनर्थ नही किया जाता है। अत आनन्द शब्द के व्यवहार मे इन प्रचलित अनर्थों का निराकरण हो जाता है और परमार्थ का स्वरूप स्वस्थ रूप मे निखर आता है। दूसरा, स्वर्ग, अपवर्ग, मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण और परिनिर्वाण के स्वरूपो मे परमार्थ-चिन्तको मे पर्याप्त भेद है पर वस्तुत उनमे एक मतैक्य है। वे सभी इसे आनन्द कहते हैं। आनन्द को परमार्थ मान लेने पर मोक्ष-सम्बन्धी सभी विचारो का समाधान हो जाता है। आनन्द को भी इस प्रसग मे एक शब्द मात्र न समझना चाहिए। इसे आनन्द-लाभ (beatification) रूप अर्थ मे लेना चाहिए। मोक्षवादियो को यह स्वीकार है। वे इसके किमर्थ (what element) मे विवाद करते हैं। उनके विवाद का आनन्दवाद मे महत्व नही रह जाता, क्योकि आनन्द-लाभ सदैव अपरोक्षानुभूति होने के कारण तथता या तत्व (thatness) है। अत यह परमार्थ के आदर्श रूपसम्बन्धी विवादो का समाधान करता है।

इसी प्रकार आनन्दवाद मुक्ति के तारतम्य के सिद्धान्त को भी व्यर्थ विवाद कहता है। आनन्द की अनुभूति ही प्रधान है। वह वस्तुत समरस है। उसके तथाकथित न्यूनाधिक्य उसके विस्फुरणमात्र हैं। हम दूसरे तत्वो की दृष्टि से आनन्दानुभूति मे तारतम्य पाते हैं। स्वय आनन्द की दृष्टि से उनमे कोई भेद नही है।

फिर आनन्दवाद सगुण और निर्गुण के विवाद को भी दूर कर देता है क्योकि दोनो मे आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द की हमे मुख्यता देनी है, आनन्द दाता की नही। अतएव सगुण और निर्गुण ब्रह्म का विवाद कल्पनासिद्ध है। जब वे आनन्द से भिन्न समझे जाते हैं तब उन पर विवाद या मतभेद हो जाता है। हम सगुण या निर्गुण ब्रह्म कह कर आनन्द पर विक्षेप करते हैं। दोनो का मतभेद किमर्थों (what elements) का भेद है। आनन्दानुभूति को ये ठीक से अभिव्यक्त नही करते क्योकि उसकी ठीक अभिव्यक्ति उसको अपरोक्षानुभूति

या तत्व (तथता—thatness) मानना ही है। सगुण या निर्गुण कह कर हम इस अपरोक्षानुभूति को परोक्ष बना देते हैं। अपरोक्ष को परोक्ष समझना एक भूल है।

इस सिद्धान्त मे निर्गुणोपासक और सगुणोपासक सन्तो की अनुभूतियो मे सिर्फ आनन्द ही मुख्य तत्व मिलता है। कबीर और तुलसीदास मे आनन्द-लाभ की दृष्टि मे अन्तर नही है। पर इस अपरोक्षानुभूति को जब वे बुद्धि द्वारा व्यक्त करते है, परोक्ष बनाते हैं, तो एक उसे निर्गुण कहता है और दूसरा सगुण। पर दोनो का लक्ष्य उसी आनन्दानुभूति को उपपन्न करना है। विशुद्ध तत्व-दर्शन की दृष्टि से भले दोनों मे अन्तर हो, पर अनुभूति के दृष्टिकोण मे दोनो मे अन्तर नहीं है। इन सब अन्तरो को इसलिए हम सन्तो की रुचि-विभिन्नता (temperamental differences) कहते हैं। सन्त आपस मे अनुभूति के ऊपर नही लडते-झगडते। हम सन्तो की रुचि-विभिन्नता को ही उनके सिद्धान्त मान लेते है और सोचते हैं कि वे अपरोक्षानुभूति के ऊपर भी लडते-झगडते हैं। इस दोष से बचना तत्वदर्शन को समझने के लिए आवश्यक है अन्यथा व्यर्थ वाग्जाल मे ही उलझे रहने के कारण तत्व की अनुभूति दूर ही रह जायगी। सत दादू ने कहा है—सब सतो का एक मत, बिच के बारह बाट।

३ आनन्दवाद समस्त भारतीय दर्शनो का आनन्दानुभूति मे समन्वय करता है। वे सभी आनन्द को परम अर्थ मानते हैं और दर्शन को इसी की प्राप्ति का साधनमार्ग बताते हैं। मार्ग के बारे मे उनमे मतभेद है, पर इस साध्य पर नही।

इनके दर्शनों को गुरुदेव रानडे ने तत्वदर्शन का रूप दिया और, इस प्रकार उन्होंने सिद्ध किया कि भारतीय दर्शन की गति कभी रुकी नही।

इस तत्वदर्शन मे एकत्ववाद और बहुत्ववाद, लीलावाद और मायावाद, सगुणवाद और निर्गुणवाद आदि स्वत अनावश्यक मत बताए जाते हैं। इन सबका उद्देश्य केवल बुद्धि को परिपक्व करना है। एतदर्थ प्रत्येक पर्याप्त हो सकता है। पर इससे बढ कर प्रत्येक के माध्यम से अपरोक्षानुभूति भी उपलब्ध होनी है। अत आनन्दवाद मे बुद्धि के विकास की विविध दिशाओ की मान्यता होते हुए भी इसका पर्यवसान अपरोक्षानुभूति मे मानना तत्वदर्शन की प्रधान समस्या है। रानडे का यहाँ कथन है कि बुद्धि का इस अनुभूति मे न नही वरन् पूर्ण विकास होता है। अत आनन्दवादी तत्वदर्शन की ... समस्यायें हैं—आनन्द की तात्विकता, इसकी अनुभूति, अनुभूति की ... अनुभूति-हेतु बुद्धि का विकास, अनुभूति-हेतु नैतिकता का सपादन और ... का लौकिक महत्व।

४ समकालीन भारतीय दर्शन मे प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और उन... अनुयायी परमतत्व मे ज्ञान, सत् और आनन्द, तीन नित्य विकल्प मानते हैं[१]। वे अपने तत्वदर्शन मे वस्तुत तीन परमतत्व मानते हैं भले ही इन तीनो वि... भूत परमतत्वो का लक्ष्य कोई अनिर्दिष्ट तत्व (तथता) हो। इनमे से ... आनन्द को ही हम सच्ची तत्वदार्शनिक कल्पना मानते हैं क्योंकि यही तत्... अपरोक्षानुभूति के सर्वाधिक समीप है। ऐसी मान्यता अद्वैतवेदान्त और स... दर्शन दोनो के अनुकूल है। कुछ भारतीय चिन्तको ने वर्तमान समय मे मू... मीमासा पर अधिक बल दिया है, जैसे गाधी जी ने। इनके भी दर्शनो की परिणति आनन्दवाद है—ऐसा मूल्य-मीमासा के परम अर्थ को आनन्द मान लेने पर मानना पडता है। इन दृष्टियो मे आनन्दवाद का समकालीन भारतीय तत्वदर्शन मे पर्याप्त महत्व है। यह मध्य युग से चली आती हुई सन्तपरम्परा और आधुनिक युग की मूल्यमीमासा का निचोड है।

---

[१] द्रष्टव्य समकालीन वेदान्त और उसकी खोज, सगमलाल पाण्डेय दार्शनिक त्रैमासिक, तृतीय वर्ष प्रथम अक १९५७।

महत्त्वपूर्ण उद्धरण

o

अनुक्रमणिका

○